

लेखक के बारे में



सेंट स्टीफंस कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय तथा इमैनुएल कॉलेज, कैम्ब्रिज से शिक्षा प्राप्त करने के उपरांत आईपी खोसला 1960 में भारतीय विदेश सेवा में शामिल हुए। उन्होंने अनेक पड़ोसी देशों में सेवा की है : भारत के प्रतिनिधि के रूप में भूटान, में, बांग्लादेश के उच्चायुक्त के रूप में, अफगानिस्तान में राजदूत के रूप में तथा विदेश मंत्रालय के सचिव के रूप में। 1963 में सेवानिवृत्त होने के उपरांत उन्होंने पड़ोसी देशों के साथ भारत के संबंधों, दक्षिण एशियाई सहयोग तथा सुरक्षा और शासन संबंधी विषयों पर काफी लेखन कार्य किया है।

वे भारतीय दक्षिण एशियाई सहयोग परिषद से भी जुड़े हैं, जो नई दिल्ली में स्थित है।

भारत-अफगानिस्तान संबंधों के
विभिन्न पहलू

आई.पी. खोसला

प्रथम प्रकाशन , 2018

प्रतिलिप्यधिकार © विश्व मामलों की भारतीय परिषद्.

आईएसबीएन : 978-93-83445-33-2

सभी अधिकार सुरक्षित हैं। इस प्रकाशन का कोई भी भाग कॉपीराइट स्वामी की लिखित अनुमति प्राप्त किए बिना , पुनर्प्राप्ति प्रणाली में संग्रहीत या किसी भी रूप में या किसी भी माध्यम से , इलेक्ट्रॉनिक, मैकेनिकल, फोटोकॉपी रिकॉर्डिंग , या अन्यथा प्रसारित नहीं किया जा सकता है।

इस प्रकाशन में तथ्यों और विचारों की जिम्मेदारी विशेष रूप से लेखक के साथ है और उसकी व्याख्या, विश्व मामलों की भारतीय परिषद्, नई दिल्ली के विचारों को प्रतिबिंबित नहीं करती है।

विश्व मामलों की भारतीय परिषद्,

बाराखम्बा रोड, नई दिल्ली -110 001, भारत

दूरभाष. : +91-11-23317242, फ़ैक्स: +91-11-23322710

www.icwa.in

विषय - वस्तु

कौटिल्य की परंपरा

स्पष्टीकरण की आवश्यकता

सदृश्य के रूप में बादशाह खान

नेहरू : हम मदद नहीं कर सकते हैं

तीसरा सिद्धांत : संस्कृति और अंतर्राष्ट्रीय संबंध

ट्रंप नीति और क्षेत्रीयवाद

पाद-टिप्पणियां

भारत-अफगानिस्तान संबंधों के विभिन्न पहलू

आई.पी. खोसला

भारत और अफगानिस्तान के बीच संबंधों के कतिपय पहलुओं की व्याख्या करने की आवश्यकता है। जिन पहलुओं की व्याख्या करने की जरूरत है उन्हें इस लेख में उनकी संभावित व्याख्याओं के साथ प्रस्तुत किया गया है जो इस संबंधों को समझने और उनकी परिकल्पना करने में सहायक होने के रूप में तीन विभिन्न सिद्धांतों को प्रतिपादित करती हैं। यह महत्वपूर्ण विषय है क्योंकि नीति-निर्माता उनके निर्णयों के सैद्धांतिक ढांचे के बारे में अनुमान लगाते हैं, भले ही वे उस ढांचे का समुचित वर्णन न कर पाएं जबकि शिक्षाविद सिद्धांतों का मुख्यतः नीति-निर्माताओं के निर्णयों के विरुद्ध परीक्षण करते हुए उन्हें विकसित करते हैं।

कौटिल्य की परंपरा

दो पड़ोसी देशों को उनके अधिकार के अनुसार यथासंभव घनिष्ठ संबंध रखना चाहिए, अर्थात् उतना ही घनिष्ठ जैसा उन्नीसवीं शताब्दी के अंत और बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में फ्रांस और रूस के बीच संबंध था, जब दोनों ही देश जर्मनी से खतरा महसूस कर रहे थे। यह एक प्रकार का संबंध है। अथवा उस प्रकार का जैसा यूएसए और यूके के बीच अधिकांश उन्नीसवीं शताब्दी और समस्त बीसवीं शताब्दी के बीच रहा था जिसमें उनके सभ्यता और संस्कृति के साझे मूल्यों की दीर्घ परंपरा अंतर्निहित थी जिसने राजनीतिक-रणनीतिक सम्मति को पर्याप्त रूप से पुनः प्रवर्तित किया था। यह दूसरे प्रकार का संबंध है।

जहां तक प्रथम प्रकार का संबंध है, भारत के विदेश मंत्रालय के साउथ ब्लॉक भवन के गलियारों में कौटिल्य के अर्थशास्त्र का प्रायः उल्लेख किया जाता है। भारत के सर्वाधिक बुद्धिमान विदेश सचिव के.पी.एस. मेनन ऐसा करने वाले प्रथम व्यक्ति थे। अपनी यात्रा डायरी में उन्होंने प्राधिकार के साथ महात्मा गांधी को उद्धृत किया है, जिन्होंने कहा था कि वे अफगानिस्तान की ओर से किए जाने वाले आक्रमण को प्रेम से समाप्त कर देंगे, परंतु मेनन ने यह भी लिखा है कि कौटिल्य का जन्म इतिहास से हुआ है। "कौटिल्य, जिन्हें भारतीय मैकियावेली कहा जाता है, ने 2,200 वर्ष पूर्व एक शत्रु को उस राज्य के रूप में परिभाषित किया था जो किसी दूसरे राज्य की अपनी सीमा पर ही स्थित" है तथा उनकी यह परिभाषा "विश्व इतिहास से जन्मी¹ है।"

अन्य विदेश सचिवों, जो समान रूप से बुद्धिमान थे, ने भी इसका समर्थन किया है। चार दशक उपरांत उनके एक उत्तराधिकारी जे.एन. दीक्षित ने यह परामर्श दिया कि भारत की विदेश नीति के औचित्य-सम्मत अभिमुखीकरण के लिए "चाणक्य की अवधारणाओं और नुस्खों को प्रयोग में लाए जाने की आवश्यकता है जो मैकियावेली से लगभग 2000 वर्ष पूर्व विद्यमान थे।"² यह वस्तुतः पर्याप्त रूप से अनुचित तुलना है; मैकियावेली के राजकुमार केवल अपनी शक्ति और प्रधानता की रक्षा करने के विषय में ही चिंतित थे; अर्थशास्त्र एक अधिक बुद्धिसम्मत और अधिक व्यापक पाठ है जो संपूर्ण लोगों की समृद्धि और उनकी शक्ति में वृद्धि से संबंधित है तथा राज्य की रणनीति

को उसके सभी पहलुओं अर्थात् घरेलू और बाह्य, में सतर्कतापूर्वक तैयार करने की आदर्श मार्गदर्शिक है और दीर्घकालिका स्व-हित पर आधारित है।

शैक्षणिक विशेषज्ञों की भी यही सलाह है तथा उनमें से दो सर्वाधिक प्रतिष्ठित शिक्षाविदों ने प्राधिकार के साथ कौटिल्य को उद्धृत किया है, "अपने अर्थशास्त्र में, कौटिल्य ने शत्रु का वर्णन उस राज्य के रूप में किया है जो हमारे अपने राज्य की सीमाओं पर ही स्थित है।"

साठ के दशक में, चीन के आक्रमण से तथा 1965 में भारत-पाकिस्तान के बीच विवादों के परिणामस्वरूप स्थिति पचास के दशक की तुलना में कुछ ऐसी ही थी। उस पूर्व दशक में भारत की विदेश नीति मुख्यतः वैसी ही थी जैसी कि जवाहरलाल नेहरू द्वारा तैयार की जाती थी जिन्होंने इसे तैयार करते समय विश्व के प्रति कर्तव्यों⁴ की संज्ञा दी थी, जिसे विश्व शांति और मानवजाति के कल्याण के संवर्धन के लिए योगदान दे रूप में माना जाता था। नेहरू ने विदेश नीति की प्रथम चिंता के रूप में सुरक्षा को पहचाना था तथा वे प्रायः इसका उल्लेख भी करते थे।" प्रत्येक देश की विदेश नीति, सर्वप्रथम, इसकी अपनी सुरक्षा तथा इसकी अपनी प्रगति की संरक्षा से संबंधित होती है।⁵ परंतु इसे मित्रता द्वारा और विश्व राष्ट्रमंडल का निर्माण करते हुए हासिल किया जाना था। साठ के दशक ने इस विचार को आँधा पलट कर रख दिया तथा यथार्थवाद और निजी हित सामने आ गए।

अतः बात फिर कौटिल्य पर आकर रुकती है जिन्होंने यह कहा है कि "उस सम्राट को शत्रु की संज्ञा दी जाती है जो विजेता की भू-भाग की परिधि के सन्निकट कहीं बैठा हुआ है" परंतु इसमें ठीक अगले पैराग्राफ में यह उल्लेख भी है जो अफगानिस्तान के संदर्भ में प्रासंगिक है कि "ऐसा सम्राट जो समान रूप से शत्रु के निकट स्थित है, परंतु केवल शत्रु द्वारा विजेता से पृथक है, उसे मित्र कहा जा सकता है।"⁶

समकालीन संदर्भ में, जहां तक अंतर्राष्ट्रीय विद्धान्त का संबंध है, यह यथार्थवाद में परिवर्तित होता है।

इस विद्यालय के दो मूलभूत आधार-वाक्य हैं; कि अंतर्राष्ट्रीय प्रणाली में ऐसे संप्रभु राज्य शामिल होते हैं जिनका विदेश नीति में उनके द्वारा लिए जाने वाले निर्णयों पर नियंत्रण होता है, यह कि यह एक ऐसी राजतंत्रवादी प्रणाली है जहां प्रत्येक संप्रभु राज्य शक्ति के प्रयोग से अपने हितों को साधता है। अतः यह नीतिपरक के स्थान पर व्यावहारिकता तथा सिद्धांतों के स्थान पर व्यवहार्यता का पक्ष लेता है। इस विद्याय में हैंस मोरगेंथो और केनेथ वाल्ट्ज अग्रता हैं, उन्होंने अत्यंत उत्कृष्ट तरीके से लिखा है।

मोरगेंथो समस्त विषय-भर आपको मार्गदर्शित करने के लिए मुख्य संकेत के रूप में "शक्ति के संदर्भ में परिभाषित रुचि की अवधारणा" के साथ प्रारंभ करते हैं। वे राजनीतिक यथार्थवाद के उनके छह सिद्धांतों में से एक के रूप में "राजनीतिक कार्यवाही के नैतिक महत्त्व" का वर्णन करते हैं, जिसके फलस्वरूप "नैतिक नियंत्रण और सफल राजनीतिक कार्यवाही की अपेक्षाओं के बीच अपरिहार्य तनाव उत्पन्न होता है।" तथापि, इस नैतिक अथवा नीतिपरक पहलू का आकलन इसके राजनीतिक परिणामों द्वारा किया जाना होता है :

"राजनीतिक लोकाचार कार्यवाहियों का आकलन उसके राजनीतिक परिणामों द्वारा करते हैं", अथवा, दूसरे शब्दों में, शक्ति के संदर्भ में परिभाषित हित के संकेतों का पालन करना नैतिक है जो एक चक्रीय तर्क है, अर्थात् इसके फलस्वरूप पुनः व्यावहारिकता को पहले रखा जाता है।⁷

वाल्ट्ज ⁸ ने मोरगेंथों के तर्क की चक्रीयता को मान्यता दी है तथा अपने व्यवस्थित ढांचे से नैतिकता को समग्र रूप से हटाते हुए उससे बचाव करने का प्रयास किया है परंतु इसमें उन्हें एक सीमित सफलता ही मिल पाई है। निष्कर्ष के तौर पर यथार्थवाद अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में विश्व के अनन्य रूप से व्यावहारिक संदर्भ में दिखाई देता है जो 'वहां विद्यमान हैं' जिसे ऐसी अपरिवर्तनीय निधियों से प्रशासित किया जाता है, जो मानवीय सोच अथवा भाषा के लिए अत्यावश्यक है। सत्तामीमासां ज्ञानमीमांसा से पहले आती है तथा अनुभववाद से तो और भी पहले आती है। यदि आपके पड़ोसी का पड़ोसी व्यावहारिक दृष्टि से आपका मित्र है, तो भूगोल की सत्यता इस पर हावी रहेगी, तथा इसका अस्वीकरण स्व-हित का बलिदान देगा और आपकी कुशलता को संकट में डालेगा। भारत और अफगानिस्तान को इसी चिंतन के औचित्य के आधार पर पाकिस्तान के प्रति एक साझा दृष्टिकोण निर्धारित करने की आवश्यकता होगी।

दूसरे प्रकार के मूल्यों के संबंध में (सभ्यात्मक और सांस्कृतिक मूल्य हमें काबुल से दिल्ली और दिल्ली से काबुल आयोजित किए गए उच्च स्तरीय द्विपक्षीय दौरों के अवसर पर जारी किए गए संयुक्त वक्तव्यों अथवा दिए गए भाषणों पर नज़र दौड़ानी होगी। उदाहरण के लिए अफगानी राष्ट्रपति के अप्रैल, 2010 को दिल्ली के दौरे के दौरान राष्ट्रपति कर्जई और प्रधानमंत्री सिंह ने अपने संबंधों की प्रगति पर संतोष व्यक्त किया था। उन्होंने यह उल्लेख किया कि ये संबंध ऐतिहासिक और सभ्यात्मक संपर्कों में गहरी पैठ बनाए हुए हैं तथा ये न केवल दो देशों के हितों और कल्याण की पूर्ति करते हैं, बल्कि क्षेत्र की शांति, स्थिरता और समृद्धि के लिए भी योगदान देते हैं।" यह एक विशिष्ट वक्तव्य है। हमारे लिए दोनों देशों के बीच यात्राओं के ऐसे उच्च स्तरीय आदान-प्रदान को ढूँढ पाना कठिन होगा जिसमें इसी बात को विभिन्न वर्णनों से नहीं दोहराया गया है। लेकिन एक अन्य, कुछ अधिक व्यापक वक्तव्य भी है जिसे जून, 2016 में हरिद नदी पर एक भारतीय परियोजना के पूर्ण होने के अवसर पर प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी द्वारा अफगानिस्तान में दिया गया था जिसमें उल्लेख था कि किस प्रकार भारतीयों और अफगानियों के साथ मिलकर उस पर कार्य किया, जिसे फलस्वरूप "हमारे बीच एक शाश्वत संबंध निर्मित हो गया जिसे इस भूमि पर लिखा गया है, यह एक ऐसा संबंध है, जो हमें इस क्षेत्र और भारत के बीच प्राचीन संबंधों का स्मरण कराता है। अनेक लोगों के लिए हरिद नदी प्राचीन वेदिक काल से हमारे परस्पर जुड़े इतिहासों का एक अध्याय रही है.....यहीं से ही सूफीवाद का चिश्ती सिलसिला अथवा चिश्ती परंपरा भारत आई थी। इसकी वैभवपूर्ण परंपरा और शिक्षा अजमेर, दिल्ली और फतेहपुर सीकरी की दरगाहों के माध्यम से दिल्ली गूँजती है। यह सभी आस्थाओं के लोगों को प्रेम, शांति, करुणा का अपना संदेश देती है; सभी मान्यताओं के लोगों को सौहार्द का पाठ पढ़ाती है, ईश्वर की समस्त रचनाओं के लिए सम्मान का

सबक देती है; भारतीय और अफगान यह जानते हैं कि ये मूल्य न कि उग्रवाद और हिंसा अफगानिस्तान को ऐसे राष्ट्र के रूप में परिभाषित करते हैं; जो प्रेम की कविताओं और शांति एवं सौहार्द की आध्यात्मिक परंपरा से परिपूर्ण हैं। इन मूल्यों की आधारशिला पर अफगानिस्तान और भारत के लोग एक-दूसरे का सम्मान करते हैं।"

वेदिक काल का संदर्भ अतिशयोक्ति नहीं है; कंधार के उत्तर में लगभग 35 किमी की दूरी पर स्थित मुंडिगक पर एक पुरातत्व स्थल में यह पता चलता है कि कुल मिलाकर सात स्तरों में से चौथे स्तर पर (2500 ई.पू) किसी व्यक्ति का कैल्साइट सिर मिला है जो पट्टियों में बंधा हुआ सिर है तथा जो सिंधु सभ्यता में पाए गए सिरों की तुलना में स्पष्टतः समान है। सिंधु सभ्यता (जिसे निरंतर वेदिक काल से जोड़ा जाता रहा है) के स्थल भी अमुदरया (अथवा ओक्सस) में पाए गए हैं, जो बड़ाकशन में शोर्टुघई स्थित कोकचा नदी के समीप है। वहां पर पाई गई ईंटों, चीनी-मिट्टी के बर्तनों पर मोर की आकृति, गेंडे वाली मोहर पाई गई है जो दर्शाती है कि सिंधु सभ्यता अफगानिस्तान के उत्तर तक फैली हुई थी। सुदूर पश्चिम की ओर, तुर्कमेनिस्तान के समीप तीसरी सहस्राब्दि ई.पू. के नामाज्गई V काल के स्थल सिंधु घाटी के प्रभाव के संकेत दर्शाते हैं : मालाएं, लघु मूर्तियां मिट्टी के बर्तन, जो व्यापार संबंधों के विद्यमान होने की ओर संकेत करते हैं। वस्तुतः कंधार (गंधार), काबुल (कुभा और बालख (बल्हिका) तथा अफगानिस्तान की अनेक अन्य नदियों का उल्लेख ऋग्वेद में भी मिलता है।

पुनः महाभारत एक अन्य महाकाव्य है जिसमें अनेक स्थानों, नदियों, जनजातियों और उनके नेताओं के नामों का उल्लेख किया गया है जिन्होंने उस वीरगाथा में उल्लेखित युद्ध में भाग लिया था तथा जो निश्चित रूप से अफगानिस्तान में ही स्थित हैं। और उस महाकाव्य में, धृतराष्ट्र की पत्नी गंधारी, जैसा कि नाम से ही स्पष्ट होता है, कंधार की राजकुमारी थी। अशोक के आदेश भी वहां पाए गए हैं तथा यह ऐतिहासिक दृष्टि से सत्य हो चुका है कि अफगानिस्तान भारत से मध्य एशिया और उसके भी आगे बौद्ध धर्म के विस्तार के लिए सहायक था।

303 ई.पू. तक मौर्य अराकोसिया (वर्तमान में अर्धानदब घाटी) काबुल नदी तथा हिंदु कुश के दक्षिण और पूर्व के सभी क्षेत्रों पर नियंत्रण रखा करते थे। उस वर्ष मे चन्द्रगुप्त मौर्य ने एलेक्जेंडर के उत्तराधिकारी सेल्युकस निकटोर के साथ एक करार पर हस्ताक्षर किए थे जिसके अंतर्गत ये समस्त भू-भाग चन्द्रगुप्त को सौंप दिए गए थे। यह स्थिति के बाद में दी गई मान्यता प्रतीत होती है क्योंकि इसमें शामिल क्षेत्रों को ऐसा माना गया था, मानो वे लंबे समय से भारत का, भारतीय साम्राज्य का भाग हों। जिन पर भारतीय रहते थे तथा ग्रीक के अनुसार उनका शासन दो साम्राज्यों के बीच का काल था। मौर्यों ने इन भूमियों को पुनरुद्धार के रूप में लिया था न कि साम्राज्यिक विस्तार के तौर पर।

इसके अलावा, कुषाणों ने भी, जिन्होंने हिन्दुवाद को अनुकूल बनाने और बौद्ध धर्म का प्रसार करने के लिए काफी कार्य किया था, उत्तरी भारत के बड़े भागों को अपने भू-भाग में शामिल कर लिया था। अतः वहां वस्तुतः ही एक साझा इतिहास है। हालांकि हमें इस संभावना पर विचार करना चाहिए कि जैसे-जैसे कोई शताब्दियों में पीछे रह जाता है तो इतिहास की बढ़ती हुई अपारदर्शिता इस

वास्तविक संभावना को छिपाने का पर्याप्त प्रयास करती है कि वे पूर्व की शताब्दियों बाद में आने वाली शताब्दियों से अधिक भिन्न नहीं रही होंगी, जब बेहतर उपलब्ध अभिलेख सदैव प्रगाढ़ न रहने वाले संबंध को दर्शाते हैं, जैसे अफगानिस्तान से और उत्तर पश्चिम से भारत में बार-बार होने वाले आक्रमण, लूट-मार, तबाही और व्यापक पैमाने पर की गई हत्याओं द्वारा हमें पता चलता है। परंतु समग्र रूप से यह संस्कृति के मजबूत संबंधों का निर्माण करने के लिए पर्याप्त रूप से साझा संबंध रहा है, जो समकालीन समय में सांस्कृतिक आदान-प्रदान के माध्यम से निर्मित हुआ है जिसमें संगीत, कविता तथा प्रशिया की भाषा के लिए प्रेम के साझे रूझान का प्रयोग किया गया है।

स्पष्टीकरण की आवश्यकता

अब हम उस बात पर आते हैं जिसका स्पष्टीकरण दिए जाने की आवश्यकता है। डेविड मोरादियन ने इसे सार रूप में बेहतर तरीके से प्रस्तुत किया है। 15 सितम्बर, 2016 के इंडियन एक्सप्रेस में उन्होंने लिखा है : "भारत-अफगान संबंध कुछ ऐसे द्विपक्षीय संबंधों में से एक है, जिनमें सभ्यात्मक, भावनात्मक और रणनीतिक अनिवार्यताओं और बंधनों के अवयव शामिल हैं। काबुल कभी एक हिंदू और बौद्ध शहर हुआ करता था, जबकि दिल्ली प्रशा साहित्य और भाषा का एक प्रमुख केन्द्र था....अनेक अफगानों के लिए भारत उन कुछेक स्थानों में से एक है जो उन्हें सम्मान और मर्यादा प्रदान करता है.....काबुल और दिल्ली रावलपिंडी की क्षेत्रीय आकांक्षा और नैसर्गिक असुरक्षा के संदर्भ में आतंकवाद का प्रयोग करने की कार्यवाही से मुख्य पीड़ित है.....तथापि, दिल्ली और काबुल अपने पर्याप्त पारस्परिक भरोसे तथा राजनीतिक, आर्थिक और सुरक्षा संबंधी अनिवार्यताओं को प्रभावी, कार्यात्मक और सर्वाधिक महत्वपूर्ण भावी भागीदारी के रूप में कार्यान्वित करने में असफल रहे हैं : यह राजनीतिक और रणनीतिक भागीदारी की तुलना में विकासात्मक और भावनात्मक अधिक रही है। भारत अफगानिस्तान की व्यापक मानवीय और विकासात्मक आवश्यकताओं में सहायता प्रदान करने में उदारवादी और प्रभावी रहा है, परंतु देश की राजनीति को उचित स्वरूप प्रदान करने तथा अधिक महत्वपूर्ण रूप से आतंकवाद के विरुद्ध इसके संघर्ष के प्रति इसका योगदान साधारण ही है। वर्ष 2011 में हस्ताक्षरित अफगानिस्तान के साथ अपने राजनीतिक भागीदारी करार को पूर्णतः और विश्वास के साथ क्रियान्वित करने में दिल्ली की अनिच्छा अफगानिस्तान में इसके हस्तक्षेप के बारे में भारत के संदेह और भय को प्रदर्शित करती है।

निष्कर्ष के तौर पर तथा उपर्युक्त के आधार पर अफगानिस्तान क्षेत्र में हमारे घनिष्ठ मित्रों में से एक हो सकता है जो हमारी राजनीतिक, आर्थिक, नैतिक और सैन्य सहायता का पात्र है ताकि उसकी शक्ति और स्थिरता सुनिश्चित की जा सके। परंतु ऐसा नहीं हुआ। इस संबंध में की गई बड़ी-बड़ी बातों के बावजूद स्पष्ट रूप से यहां एक रणनीतिक दृष्टिकोण का अभाव विद्यमान था।

इतिहास में इसकी पृष्ठभूमि है, जिसे स्मरण करना महत्वपूर्ण है, भले ही इनमें से कुछ का वर्तमान पर मात्र हल्का सा प्रभाव है। ब्रिटिश विस्तार और शासन की अवधि के दौरान भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन द्वारा अफगान को सहायता प्रदान करने अथवा अफगान द्वारा भारत को सहयोग

करने का कोई वास्तविक प्रयास नहीं किया गया था, हालांकि वस्तुतः अफगानिस्तान ऐसी शक्ति था जिसने कुल मिलाकर निरंतर ही विस्तार का विरोध किया था।

उदाहरण के लिए, यदि हम उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य की बात करें, और उन चुनौतियों के विषय में जानने के उपरांत हम यह सोच पाते हैं कि भारत में ब्रिटिश की बढ़ती हुई शक्ति ने भारतीय शासकों और अफगान राजाओं, दोनों के लिए हित की स्थिति उत्पन्न की थी कि उन्हें एक हो जाना चाहिए था। 1847 तक यह स्पष्ट हो गया था कि अफगानिस्तान तथा भारतीय शासकों के प्रति ब्रिटिश नीति क्या होने वाली है। 1834 में, उन्होंने अफगान शासक दोस्त मोहम्मद खान को हटाने का प्रयास किया, परंतु विफल रहे, तथा सिख शासक रणजीत सिंह उनके साथ शामिल हो गए। पांच वर्ष बाद, उन्होंने सिंधु की व्यापक सेना (उस काल के लिए) एकत्र की और अफगानिस्तान पर आक्रमण कर दिया। इस अवसर पर उन्होंने अपनी एक कठपुतली शाह शूजा के साथ त्रिपक्षीय संधि कर ली, जिसे वे काबुल के ताज पर बैठाने का आशय रखते थे तथा रणजीत सिंह अभी तक इस बात से अनभिज्ञा रखते थे कि उनके साम्राज्य के भाग्य में क्या लिखा है। उन्होंने काबुल ले लिया परंतु इसका परिणाम, अफगान के हाथों हुई तबाही तथा 1841 और 1842 के अंत में इंडस की सेना के अंतिम व्यक्ति का बलिदान भी पुनरावृत्ति के लिए सुविख्यात था। एक दशक से भी कम समय में, रणजीत सिंह का साम्राज्य भी चला गया, उनकी सेना (किसी अकुशल उत्तराधिकारी के नियंत्रणाधीन) को भी ब्रिटिश द्वारा हटा दिया गया परंतु उन्होंने अफगानिस्तान की सहायता के लिए बहुत कुछ किया था। 1857 में भी यही बात हुई। अफगान शासक ने मार्च, 1855 में ब्रिटिश के साथ एक संधि पर हस्ताक्षर किए, उन्होंने सहमति दी कि 'माननीय ईस्ट इंडिया कंपनी के मित्र उनके मित्र तथा उसके शत्रु होंगे। जनवरी, 1857 में, उन्होंने साथ एक अन्य संधि पर हस्ताक्षर किए। अतः जब भारत में 1857 की क्रांति हुई, और उसके लिए सहायता की अपील भी की गई, दोस्ता मोहम्मद ने उसके उत्तर में कुछ भी नहीं किया। इतिहासकार डी.पी. सिंघल उस असंयम के साथ, जिससे इतिहासकार प्रायः ग्रसित होते हैं (इस बात पर विचार करते हुए कि ब्रिटिश सदैव ही अफगानों के विरुद्ध पराजित नहीं हुए थे), कहते हैं "यदि उसकी (अमीर की) सेनाएं उत्तर-पश्चिम दरों से निकल गई होतीं, तो यह कहना उचित ही होगा कि ब्रिटिश एक अत्यंत कठिन परिस्थिति में पहुंच जाते।"⁹ यहां पर हल्का मुद्दा यह है कि कुछ भारतीयों ने यह महसूस किया था कि अफगान उनकी सहायता करेंगे। इसका गहन मुद्दा यह है कि एकमात्र आक्रांता को उपमहाद्वीप से खदेड़ने के लिए न तो भारतीय और न ही अफगान एकत्र हो पाने अथवा ठोस रणनीति बनाने अथवा उस तरीके से कार्य करने में असफल रहे, जो उन्होंने निःसंदेह ही अपनी सलाह से बताया था।

तथापि, यह बार-बार घटने वाली घटना बन गई थी, अफगान शासक एक के बाद एक भारतीय शासकों द्वारा की गई गलतियों को पुनः दोहरा रहे थे तथा वे आक्रामणकारियों को दूर रखने के स्थान पर उनकी ओर से एक के बाद एक किए जाने वाले लोभपूर्ण प्रस्तावों से भ्रमित हो रहे थे। भारत में ब्रिटिश शासन के दशकों के दौरान उन्हें सामान्य स्थिति बहाल रखने के लिए बार-बार प्रस्ताव दिए गए और इसके फलस्वरूप उनके विरुद्ध वस्तुतः परस्पर एकजुट होने का कोई प्रयास नहीं किया गया।

सर्वाधिक महत्वपूर्ण उस तरीके का निर्णय करना था जिस तरीके से भारतीय नेताओं ने हाल के वर्षों में पठानों की चिंताओं के मुद्दों के प्रति प्रतिक्रिया व्यक्त की थी, जो इस बात का एक पूर्वोदहारण है कि उन्होंने बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन पर किस प्रकार से प्रतिक्रिया की थी। हमें यहां इस बात को महसूस करने की आवश्यकता है कि पठान मुद्दा अफगानिस्तान के लिए कितना महत्वपूर्ण था और अभी भी बना हुआ था। पठानों का भविष्य अफगान के राष्ट्रीय स्व-हित के केन्द्र में रहा है। यह आकलन कर पाना असंभव है कि इस बात को समझे बगैर कि यह मुद्दा कितना महत्वपूर्ण है, विशेष रूप से बीसवीं शताब्दी में, अफगानिस्तान के पास केन्द्रीय पठान पहचान के आधार पर अपने राष्ट्र का निर्माण करने के अलावा कोई अन्य विकल्प ही नहीं था जिसका अर्थ डूरंड रेखा के पठानी पूर्ण पर वस्तुतः एक स्थायी दावा करना था, जहां उनकी संख्या काफी थी तथा इसमें विशेष रूप से पेशावर का पठान शहर था जो ऐतिहासिक दृष्टि से दुररानी की शीत राजधानी था।

अपने पड़ोसियों के प्रति भारत के रणनीति दृष्टिकोण के समग्र संदर्भ में यह समझना भी समान रूप से महत्वपूर्ण है कि क्षेत्र में और उसके बाहर, किसी अन्य देश की तुलना में भारत ही ऐसा देश है जिसके पास अफगानिस्तान में सुदृढ़ता सुनिश्चित करने के लिए प्रमुख उत्तरदायित्व है। स्व-निर्धारण की प्रक्रिया के माध्यम से उत्तर-पश्चिम के सभी पठानों की स्वायत्तता अथवा स्वतंत्रता की मांग; और डूरंड रेखा को समाप्त करने के लिए उससे संबंधित मांग पर अफगानिस्तान के लिए सहयोग संभवतः अफगानिस्तान को सुदृढ़ बनाने के लिए प्रत्यक्षतः योगदान नहीं देगा, परंतु यह उनका हौसला बढ़ाने वाला अवश्य सिद्ध होगा तथा इससे उसे एक स्थायी मित्र की प्राप्ति होगी। इसके अलावा, ऐसा दृष्टिकोण पूर्णतः औचित्यपूर्ण भी है।

एच.एम. डूरंड तथा अफगानिस्तान के अमीर के बीच नवम्बर, 1893 को हुआ करार, जो डूरंड रेखा का आधार है, जैसा कि पाठ को पढ़ने से स्पष्ट हो जाता है, मुख्य रूप से ब्रिटिश भारतीय भू-भाग तथा अफगान के बीच किसी अंतर्राष्ट्रीय सीमा के बारे में नहीं था, इसका प्रथम अनुच्छेद ही अमीर द्वारा किए गए इस करार के बारे में था कि वह ओक्सस नदी को अफगानिस्तान की उत्तरी सीमा के रूप में स्वीकार करता है। इसके उपरांत, दूसरे अनुच्छेद में भारत की ओर अफगानिस्तान के सीमावर्ती क्षेत्र के बारे में उल्लेख है (अनुच्छेद II, उद्देशिका); परंतु इसमें वहां पर कहीं भी किसी अंतर्राष्ट्रीय सीमा रेखा का कोई वर्णन, रेखांकन अथवा कोई उल्लेख नहीं है। दूसरे शब्दों में ब्रिटिश भारत और अफगानिस्तान के बीच, पाठ में कहीं भी कोई रेखा नहीं है जिसे सीमा, अंतर्राष्ट्रीय सीमा अथवा ऐसा ही कुछ वर्णित किया गया हो; इसे सीमावर्ती क्षेत्र अथवा सीमावर्ती क्षेत्र रेखा कहा गया है तथा करार यह था कि कोई भी पक्ष, अनुच्छेद II(2) के अनुसार, दूसरे पक्ष की ओर पड़ने वाले भू-भाग पर हस्तक्षेप का प्रयोग नहीं करेगा। इसके उपरांत, इसे बार-बार सीमावर्ती क्षेत्र रेखा कहा गया है। अतः यह वास्तव में एक पारस्परिक गैर-हस्तक्षेपकारी करार था, तथा प्रभाव के दो क्षेत्रों के बीच एक रेखा विद्यमान थी न कि दो संप्रभुताओं के बीच। यह स्थिति 1947 तक जारी रही, और समय तक भी ब्रिटिश ने इसे परिवर्तित करने का कोई प्रयास नहीं किया। इसके उपरांत पाकिस्तान ने एकपक्षीय रूप से यह घोषणा कर दी कि यह एक वैध अंतर्राष्ट्रीय सीमा है, इसने शीघ्र ही ब्रिटेन से

अपने सैन्य सहयोगियों का समर्थन हासिल कर लिया 30 जून, 1950 को हाउस ऑफ कामंस में एक वक्तव्य में, जो अभी गठबंधन देश नहीं था, जल्द बनने वाला था तथा मार्च 1956 को कराची में आयोजित दक्षिण-पूर्व एशिया संधि संगठन की बैठक में इसकी पुष्टि की गई।

वास्तविक स्थिति यह है कि किसी भी अफगान सरकार ने कभी भी इस रेखा को अंतर्राष्ट्रीय रेखा के रूप में स्वीकार नहीं किया। यहां तक तालीबान सरकार, जो अंतर्राष्ट्रीय दृष्टि से अलगाववादी थी जिसे पूरे संसार के राष्ट्रों में से केवल तीन द्वारा ही मान्यता दी गई थी, जिसमें से एक पाकिस्तान था, जिसने ही वस्तुतः इसे स्थापित किया था, इसे इस रूप में स्वीकारने से इंकार कर दिया था। इससे पाकिस्तान को काफी नाराजगी हुई थी जिसने यह स्वीकृति प्राप्त करने के लिए कड़ा प्रयास किया था।

इसका सार यही है कि करार के पाठ में अथवा अंतर्राष्ट्रीय विधि में अथवा प्रक्रिया में भारत के लिए ऐसा कोई कारण नहीं था जिससे भारत ड्रेंड रेखा को अंतर्राष्ट्रीय सीमा के रूप में मान्यता प्रदान करता तथा अनेक वर्षों तक भारत ने विश्लेषित द्वैधवृत्ति की नीति का अनुपालन किया। इसके बाद 31 मई, 1978 को पाकिस्तान के समाचारपत्र *दि डॉन* ने रिपोर्ट प्रकाशित की कि भारत के विदेश मंत्री श्री अटल बिहारी वाजपेयी ने यह घोषणा की है कि पाकिस्तान और अफगानिस्तान के बीच विद्यमान ड्रेंड रेखा का नई अफगान सरकार द्वारा सम्मान किया जाना चाहिए तथा 'विद्यमान सीमाओं का सम्मान होना चाहिए'।¹⁰ यह वक्तव्य, जिसे उसके उपरांत मेरी जानकारी के अनुसार कभी नहीं दोहराया गया था, स्पष्टतः ऐसी यादृच्छिक प्रश्नोत्तरी का उदाहरण प्रतीत होता था, जो कि एक ऐसा संकट था जिसका सामना पाकिस्तान के प्रति भारत की नीति में कार्यरत समस्त शोधकर्ताओं द्वारा किया जाना ही होता है तथा जिसका उद्गम अस्त-व्यस्तता से भरे किसी सिद्धांत में है क्योंकि किसी भी अंतर्राष्ट्रीय संबंध सिद्धांत में इसके लिए कोई स्थान ही है।

दूसरे स्थान पर, वे मांगें हैं, जो एक स्थलरुद्ध देश होने के कारण अफगानिस्तान अनेक वर्षों से पाकिस्तान से करता रहा है जिसमें मुख्य यह है कि पहुंच मार्गों को बंद किए जाने को आक्रमण ही समझा जाए जिसे भारत द्वारा भी समर्थन दिया जा सकता है, परंतु ऐसा नहीं किया गया।

सदृश्य के रूप में बादशाह

प्रथम मुद्दे के प्रति भारत का सामान्य दृष्टिकोण तथा उसमें रुचि के अभाव को वर्तमान इतिहास द्वारा उस व्यक्ति की कहानी के रूप में काफी बेहतर ढंग से वर्णित किया गया है जिसने भारत से संबंधित मुद्दों के अंतर्गत अपना संपूर्ण राजनीतिक कैरियर निर्मित कर दिया अथवा जिन्हें भारत से संबंधित चिंता के प्रति होना चाहिए था बादशाह खान ने उत्तर-पश्चिम : भारत, पाकिस्तान और अफगानिस्तान के समस्त लाभप्रद राजनीतिक संकेतकों तथा उनके पारस्परिक संबंधों की संभावनाओं, उपकरणों के रूप में शांति और अहिंसा, पठानों तथा परंपरा और धर्म में उनकी परिधियों का निर्माण किया अथवा उने निर्माण में सहायता प्रदान की। परंतु वास्तविकता लाभप्रद नहीं है, यह एक बहु-स्तरीय उक्त मार्ग की भांति है जो अनेक दिशाओं की ओर जा रहा है।

वर्ष 1919 तक उन्होंने अहिंसा की अनिवार्यता के समस्त साधनों के ऊपर कांग्रेस दल के सिद्धांतों के आधार पर उत्तर-पश्चिम के पठानों के मध्य खासा नाम हासिल कर लिया था, जो इस बात पर विचार करते हुए अपने-आप में एक चमत्कार की भांति ही था कि पठान संस्कृति और परंपरा के लिए बंदूक का महत्व कितना अधिक है। ब्रिटिश समाज के विरुद्ध उनकी पहली राजनीतिक कार्रवाई युद्ध के समय सरकार द्वारा अर्जित असाधारण शक्तियों को बनाए रखने के उद्देश्य से मार्च, 1919 में पारित रॉलैट अधिनियम पर आधारित थी जिसमें साधारण विधि प्रक्रिया तथा बिना किसी विचारण के जेल भेजे जाने को प्राधिकृत करने को रोका जाना भी शामिल था। गांधी ने इसके विरोध में एक सक्रिय विरोध आंदोलन संचालित किया था जिसके विरुद्ध सरकार द्वारा संगठित रूप से हिंसा की कार्यवाही की गई थी जिसमें नागरिकों पर अंधाधुंध गोलियां बरसाना, बिना कानूनी विचारण के फांसी पर लटकाना, हवाई बमबारी करना और जलियावाला बाग में सैकड़ों निहत्थे नागरिकों को जनरल डायर द्वारा गोलियों से भून देना भी शामिल था।

उत्तर-पश्चिम में दमनकारी उपाय विशेष रूप से काफी गंभीरता से लिए गए थे तथा 6 अप्रैल को बादशाह खान ने अंटमंजई गांव में, जहां उनका जन्म हुआ था, एक सार्वजनिक बैठक का आयोजन किया। बैठक के प्रति लोगों की प्रतिक्रिया काफी सकारात्मक थी तथा उसमें अधिनियम की निंदा करने वाला संकल्प पारित किया गया। उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया तथा उनके मित्रों ने उन्हें पूछना शुरू कर दिया कि वे ऐसा क्यों कर रहे हैं और उत्तर-पश्चिम के लोग भारत के लोगों के लिए इतना जोखिम क्यों ले रहे हैं, जिन्होंने पठानों के प्रति कोई सहानुभूति व्यक्त नहीं की है।

इसी समकालीन स्थिति में और निःसंदेह ही ब्रिटिश शासकों के विरुद्ध गांधी द्वारा भारत में छेड़े गए विरोध आंदोलन का लाभ उठाते हुए, जिसे उन्होंने भारत में ब्रिटिश शासन के विरुद्ध उभरते हुए असंतोष की सामान्य भावना में पहचान लिया था, अफगानिस्तान के शासक अमीर अमानुल्ला खान ने मई, 1919 को एक विशेष दरबार का आयोजन किया जिसमें उन्होंने ब्रिटिश शासन के विरुद्ध जेहाद की घोषणा की, जिसका प्रथम उद्देश्य अफगानिस्तान के लिए पूर्ण स्वतंत्रता हासिल करना तथा दूसरा उद्देश्य वे अपने भारतीय भाइयों की सहायता करना था। अफगान सेना की एक टुकड़ी ने ड्रंड रेखा पार की तथा एक सीमावर्ती गांव को अपने नियंत्रण में ले लिया। इसके उपरांत अमेरिका को 'चौंका देने वाली जानकारी प्राप्त हुई.....कि अफगानियों ने धार्मिक कट्टरवादियों के संगठनों के नेतृत्व में तीन मोर्चों पर एक साथ हमला करने की योजना बनाई है जिसे पवित्र युद्ध के रूप में घोषित किया गया है....जबकि ब्रिटिश सेनाएं भारत में बड़े पैमाने पर फैले दंगों को रोकने के लिए असंगठित हो रही थी।¹²

कांग्रेस पार्टी ने दोनों ही स्थितियों अर्थात् बादशाह खान द्वारा प्रारंभ की गई पहल तथा अफगानिस्तान के अमीर द्वारा घोषित जेहाद के प्रति अलग-अलग तरीके से प्रतिक्रिया व्यक्त की। पार्टी में से कोई भी नेता यह देखने उत्तर-पश्चिम नहीं गया कि बादशाह खान आखिर क्या कर रहे हैं (गांधी ने ऐसा किया, परंतु कुछ वर्षों बाद)। जहां तक अफगानिस्तान के अमीर का संबंध था, इस तथ्य के बावजूद भी अमानुल्ला और अफगानों को कोई समर्थन प्राप्त नहीं हुआ था कि वे उस समय ब्रिटिश शासन का विरोध करने के लिए 'प्रांतीय भारत सरकार' का विरोध कर रहे थे। फिर भी, 31

मई, 1919 को तीसरे आंग्ल-अफगान युद्ध की समाप्ति के उपरांत अनेक कांग्रेस नेता इस बात से आश्वस्त हो गए थे कि वे भारत पर आक्रमण कर देंगे (यह एक ऐसा भय था जिसे उत्तर-पश्चिम से पूर्व में हुए आक्रमणों के संदर्भ में ब्रिटिश सरकार द्वारा बढ़ा-चढ़ाकर बार-बार लूटमार और मार-काट की संज्ञा दी जाती थी, जिसके फलस्वरूप पूर्व शताब्दियों से ही इस भयाक्रांत तबाही का महिमामंडल किया जाता था), हालांकि यह भय वास्तविकता से काफी परे था तथा इसे स्वयं गांधी द्वारा भी साझा नहीं किया गया था। परंतु इसके विषय में धारणा इस तथ्य से पुनः प्रवृत्त हुई जब दिसम्बर, 1919 में कांग्रेस के सत्र में मौलाना मोहम्मद अली ने भारतीय मुसलमानों के अफगानिस्तान स्थानांतरण की दलील दी थी, जिसे कथित रूप से हिजरात कहा गया था और यह कहा था कि उनके धार्मिक अधिकारों का प्रयोग करने के लिए भारत की परिस्थितियां अनुकूल नहीं हैं। एक अत्यंत अस्पष्ट रूप से तैयार किया गया अनुपूरक विचार यह था कि इसके उपरांत भारत के मुस्लिम अफगान के अमीर की सहायता से ब्रिटिश शासन का विरोध करने के लिए भारत पर चढ़ाई करेंगे। जुलाई, 1920 की समाप्ति तक, लगभग 25,000 मुस्लिम भारत से अफगानिस्तान की ओर रवाना हो गए और फिर अफगान शासक ने इस दलील के आधार पर उन्हें वापस भेजना प्रारंभ कर दिया कि अफगान के आतिथ्य-सत्कार की भी अपनी सीमाएं हैं। इसके उपरांत, 1931 की समाप्ति तक, भारतीय और अफगानी राष्ट्रवाद के बीच विद्यमान तालमेल की छोटी और किसी हद तक अभूतपूर्व अवधि की समाप्ति हो गई। अमानुल्ला के प्रांतीय भारत सरकार कार्यालय को बंद कर दिया। 22 नवम्बर, 1921 को उसने ब्रिटिश के साथ एक अन्य करार पर हस्ताक्षर किए जिसमें औपचारिक राजनयिक संबंध स्थापित करने तथा पारस्परिक मैत्री और समझ की पुष्टि की गई थी और इस प्रकार ब्रिटिश शासन के विरुद्ध भारतीय राष्ट्रवादी आंदोलन की सहायता करने वाले उस कतिपय अस्पष्ट सहयोग की समाप्ति हो गई। अमानुल्ला ने शब्दों में तो भारत की स्वतंत्रता के लिए सहयोग जारी रखने की बात की तथा 1927 में बंबई में एक मस्जिद में दिए गए भाषण में ऐसा कहा। फिर भी, अनेक वर्ष उपरांत, हालांकि नेताजी सुभाष बोस ब्रिटिश शासन से छिपते-छिपाते प्रथम शरणार्थी के रूप में अफगानिस्तान गए थे, परंतु उन्होंने वहां सरकार पर भरोसा नहीं किया था जो उन्हें गिरफ्तार करके संभवतः ब्रिटिश के हवाले कर सकती थी, अतः वे वहां केवल दो से कम महीने ही रहे, और इस संशय से, वे एक स्थान से दूसरे स्थान पर लगातार जाते रहे तथा अनेक अवसरों पर वे अपनी अगली योजना की पृष्ठभूमि तैयार करते हुए पुलिस को रिश्वत भी देते रहे ताकि वह उन्हें गिरफ्तार न कर ले।

जहां तक अफगान आक्रमण के भय का संबंध है, ये अफवाहें अत्यंत व्यापक रूप से प्रसारित की गई थीं जिनकी बार-बार भत्सर्ना की जानी भी अपेक्षित थी, परंतु इन पर विभिन्न घोषणाओं द्वारा विराम लगा दिया गया जिनमें कांग्रेस के 38वें सत्र में (1923) स्वयं मोहम्मद अली द्वारा की गई घोषणा भी शामिल थी, "जहां तक अफगानिस्तान के महामहिम अमीर की भारतीय मुसलमानों की सहायता करने के लिए भारत पर आक्रमण की बात है, यह मात्र भय और कायरता द्वारा सृजित कल्पना है तथा इसका सामना साहसम और आत्म-विश्वास द्वारा ही किया जा सकता है।"

तब गांधी ने 'यंग इंडिया' में लिखा था कि "मैं इस बात पर विश्वास नहीं करता हूँ कि अफगानिस्तान भारत पर आक्रमण करना चाहता है", उन्होंने आगे अपनी विशिष्ट शैली में कहा, "मैं तो यह देखना चाहता हूँ कि भारत अपने सम्मान की कीमत पर किसी अफगान हमले से स्वतंत्रता खरीदने के स्थान पर अफगान के हाथों समाप्त हो जाएँ।" कराची में आयोजित कांग्रेस सत्र में नेहरू ने, जिन्होंने सरकार की सीमावर्ती नीति पर संकल्प पेश किया था, इस तर्क को और आगे ले जाते हुए कहा कि "अनेक वर्षों से अफगानियों को ऐसे क्रूर लोगों के रूप में चित्रित किया गया है जो हत्याएं और लूटमार करने के लिए निकलते थे तथा जब से ब्रिटिश सरकार भारत आई है, तब तो सार्वभौमिक लूट का सिलसिला ही शुरू हो गया है।"¹⁵ इन सभी बयानों के बावजूद, वे प्राचीन भय अभी भी ताजे बने हुए हैं।

लेकिन, अफगान शासक का प्राथमिक हित प्रत्यक्षतः पठानों के भविष्य में निहित था, उसने यह सोचा कि ऐसा अफगानिस्तान के साथ होगा तथा उसके लिए स्व-निर्धारण उसके ब्रिटिश-विरोधी जेहाद के नारे में था। जनरल नादिर खाने, जिसने ब्रिटिश के विरुद्ध उसकी सेनाओं का नेतृत्व किया था, ने 31 जनवरी, 1920 को डूरंड रेखा के दोनों ओर रहने वाले सीमावर्ती आदिवासियों की एक बैठक बुलाई जिसका उद्देश्य पठानों को संगठित करना था तथा उस बैठक में उसने यह घोषणा की "नस्ल, धर्म और रीति-रिवाजों के संदर्भ में सीमावर्ती आदिवासी अफगानियों के साथ है तथा ऐसा कोई कारण नहीं है कि उन्हें अजनबियों के नियंत्रण में रखा जाना चाहिए।" और अफगान ब्रिटिश युद्ध की उस वर्ष समाप्ति के लिए की गई वार्ताओं में यह एक बड़ा मुद्दा बना था।

यह स्थिति हमें चालीस के दशक में ले जाती है जब स्वतंत्र भारत के भविष्य पर निर्णय लेने के लिए तथा जानने के लिए वार्ताएं आयोजित की गई थी कि किस प्रकार जैसा कि पठान नेताओं द्वारा देखा गया था) इससे पठान मांगों के प्रति कांग्रेस के नेताओं विशेष रूप से जवाहरलाल नेहरू की मनोवृत्ति अभिव्यक्त हुई। ब्रिटिश की ओर से भारत को सत्ता के हस्तांतरण की मसौदा योजना मई, 1947 के प्रारंभ तक तैयार हो गई थी। जब वी.पी. मेनन ने इसे नेहरू को दिखाया, तो उन्होंने उत्तर-पश्चिम मोर्चे के प्रांत के बारे में उपबंधों को पसंद नहीं किया। अन्य प्रांतों को उनकी इच्छा के अनुसार प्रांतीय सभा का निर्णय लेने का अवसर दिया गया था तथा एनडब्ल्यूएफपी में खान साहब (बादशाह खान के भाई) की फ्रंटियर नेशनल कांग्रेस सबसे बड़ी पार्टी के रूप में उभरकर सामने आई थी और वह निश्चित तौर पर भारत में शामिल होने के लिए प्रांत के लिए मतदान करती तथा यही मतदान उस योजना में रखे जाने की संभावना थी। परंतु मई, 1947 की योजना में उस मतदान के स्थान पर उस प्रांत में एक जनमत-संग्रह कराने का प्रावधान था और यह बात ज्ञात थी कि मुस्लिम लीग तब उस प्रकार की हिंसा आयोजित करती जिसका बादशाह खान और उनके भाई का अहिंसावादी दृष्टिकोण प्रभावशाली रूप से सामना नहीं कर सकता था, और यह जनमत-संग्रह वस्तुतः उस प्रांत को उसके लोगों की इच्छाओं के विरुद्ध पाकिस्तान में शामिल होने की अनुमति थी। वी.पी. मेनन ने लिखा है कि अतः नेहरू ने मई में भी यह परिकल्पना की थी कि वह प्रांत भारत में शामिल हो सकता है।¹⁶ 2 जून तक, विशेष रूप से नेहरू को मनाने की लार्ड माउंटबेटन की योग्यता और सतत विश्वास के कारण मोटे तौर पर यह प्रतीत हुआ कि कांग्रेस पार्टी नेतृत्व द्वारा मूल प्रस्ताव स्वीकार

कर लिया है। उस समय अफगानिस्तान की सरकार ने अपनी स्वयं की स्थिति को स्पष्ट किया : सिंधु के पश्चिम में रह रहे लोग अफगान हैं तथा इन लोगों को अपना स्वयं का भविष्य चुनने का अधिकार दिया जाना चाहिए। भारत में सेक्रेट्री ऑफ स्टेट ने इसे अस्वीकार कर दिया परंतु निश्चित तौर पर अफगानी भावना (सीमा के दोनों ओर) को नेहरू द्वारा अपमानित किया गया था। यह एक सुदृढ़ भावना थी जिसे चार दशकों बाद भी अफगान नेताओं और मंत्रियों के साथ होने वाली बातचीत में संकेत के रूप में प्रकट किया जाता था, जब मैं वहां पर कार्यरत था, यदि भारत की स्वतंत्रता के बारे में वहां कोई चर्चा छिड़ जाया करती थी।

तथापि, उत्तर-पश्चिम में बन्नु में कांग्रेस पार्टी की स्थानीय इकाई ने 22 जून, 1947 को एक संकल्प स्वीकृत किया जिसमें एक स्वतंत्र पठानी राज्य को परिभाषित किया गया जिसमें एक पठान 'संविधान' होगा तथा जो लोकतंत्र, समानता और न्याय की इस्लामी अवधारणाओं पर आधारित होगा।¹⁷ इसे गांधी द्वारा प्रेरित किया गया था जब वे वहां के दौरे पर थे। कुल मिलाकर, अफगानिस्तान की अपमानित की गई अफगान भावना ही वहां सर्वत्र व्याप्त थी। कांग्रेस पार्टी के लोकप्रिय नेता माने जाने वाले बादशाह खान की भी यही भावना थी 'आपने हमें भेड़ियों के सामने फेंक दिया है,' जब उन्होंने विभाजित उपमहाद्वीप के माउंटबेटन के 3 जून, 1947 के प्रस्ताव को स्वीकार किया था; यह विशुद्ध अतिशयोक्ति नहीं थी, वस्तुतः किसी बालक और उसके नहाने के पानी के समान थी, उन्हें रणनीतिक उत्तर-पश्चिम फ्रंटियर और उसके परे की ओर एक सफल नीति के अवसरों से भी बाहर कर दिया गया था।

नेहरू : हम मदद नहीं कर सकते हैं

इस सामान्यतः तटस्थ दृष्टिकोण के अनुसार अफगानिस्तान के हित के मुख्य मुद्दों की कुल मिलाकर अपेक्षा की गई थी। अतः हालांकि अफगानिस्तान के साथ संबंध मैत्रीपूर्ण थे जिनमें उच्च स्तरीय दौरे भी आयोजित किए जाते थे, जनवरी, 1950 में एक मैत्री संधि की गई जिसने दोनों देशों के बीच 'शाश्वत शांति और मित्रता' स्थापित की, तथा व्यापार को बढ़ाया और अप्रैल, 1950 में बाजार संधि की गई, सूक्ष्म सहायता परियोजनाएं क्रियान्वित की गई तथा अन्य सहकारी उद्यमों के मध्य प्रशिक्षण की सुविधाएं भी सृजित की गई परंतु उन मुद्दों के बारे में अफगानिस्तान के लिए कोई सहयोग मुहैया नहीं कराया गया जिन्हें वह महत्वपूर्ण मानता था, न तो पठानों के स्व-निर्धारण के लिए और न ही स्थलरुद्ध राज्यों के अधिकारों के लिए। मार्च 1950 में संसद में दिए गए एक भाषण में पड़ोसी देशों के बारे में बोलते हुए नेहरू ने उक्त मुद्दे पर स्पष्टतः कहा था कि यह ऐसा मुद्दा है, जिसका पूर्व में भी उल्लेख किया गया है तथा यह अफगानिस्तान के लिए विशेष महत्व रखता है। उन्होंने फ्रंटियर प्रांत का उल्लेख किया, उन 'साथियों और मित्रों का उल्लेख किया जिन्होंने स्वाधीनता के संघर्ष में भारतीयों की तुलना में अधिक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई' तथा यह कहा कि उन्हें भुला देना अमानवीय और गलत होगा, और साथ ही यह भी उल्लेख किया कि "यह हमारे लिए खेद का विषय है कि हम उनकी किसी भी रूप में सहायता किए बिना एक निश्चित दूरी बनाते हुए उनके प्रति रुचि रखते रहे हैं।"¹⁸ हालांकि उन्होंने इस बात का कोई उल्लेख नहीं किया कि वह क्या वजह थी जिसकी वजह से उन्हें कोई मदद नहीं दी जा सकी।

अनेक प्रयासों से, सात दशकों में अफगानिस्तान के प्रति भारत की नीति की मूल विषय-वस्तु में अनुपालन की जाने वाली प्रमुख भावना का नेहरू के इन शब्दों में संक्षेप में वर्णित किया जा सकता है 'किसी भी तरीके से सहायता करने में समर्थ हुए बिना'। इस मामले में असहाय लगने की भारत की अभिव्यक्ति के लिए कोई कारण प्रतीत नहीं होता था, चूंकि काफी कुछ किया जा सकता था जिसमें पठानी मुद्दे और ड्रेंड रेखा पर अफगान के पक्ष के लिए राजनयिक समर्थन तो प्रदर्शित किया जा सकता था। यह कार्यवाही तो व्यवहार्य रूप से की ही जा सकती थी, परंतु ऐसी कोई कार्यवाही नहीं की गई। और अफगान अत्यंत निराश हुए जिसकी अभिव्यक्ति उन्होंने 1962 में चीन के आक्रमण के समय समान पक्ष लेते हुए तथा 1965 में और फिर 1971 के युद्ध में पाकिस्तान के हमले के दौरान और उसके उपरांत सामान्य तौर पर पाकिस्तान के प्रति सहयोग प्रदर्शित करते हुए की थी। वस्तुतः 1971 के युद्ध के बाद, प्रीमियर भुट्टो 11 जून, 1972 को काबुल गए थे और वहां उन्होंने एक प्रेस कांफ्रेंस में यह कहा था कि उनके दौरे का उद्देश्य इस बात के लिए धन्यवाद देना है कि उन्होंने उस समय हमारी समस्याओं में वृद्धि नहीं की जब हम अपने सबसे बड़े संकट का सामना कर रहे थे।' और उस अवधि के दौरान जब हमने देशों के बारे में उनकी इस प्रवृत्ति से निर्णय लिया था कि कितने तेजी से उन्होंने बांग्लादेश को मान्यता प्रदान की थी, अफगानिस्तान ऐसा करने वाला अंतिम देश था। यहां तक कि इस्लामी विश्व के सदस्यों के मध्य भी। अतः उनमें पर्याप्त मात्रा में संवेदनशीलता है, सहायता प्रदान करने की उदारता है, परंतु वास्तव में, जहां तक स्व-हित के मुख्य मुद्दों का संबंध है, ये संबंध हाशिए पर ही रहे हैं।

यह दृढ़तापूर्वक उल्लेख किया जाता है कि भारत की विदेश नीति के दो पहलुओं को यहां हस्तक्षेप करना था।

निरंतर बेहतर संबंध बनाए रखने की आवश्यकता भी एक थी। एक उदाहरण स्थापित करते हुए, विदेशी संबंध किस प्रकार होने चाहिए, इस दिशा में अनुआई करते हुए, भारत इस बात पर विश्वास करता है कि ऐतिहासिक रूप से निर्धारित सीमाएं, जैसे ड्रेंड रेखा, का स्मरण किया जाना चाहिए (भले ही यह बिल्कुल भी अंतर्राष्ट्रीय सीमा न हो कुछ समय पश्चात् पाकिस्तान ने चीन को समर्थन प्रदान किया जब चीन ने मैकमोहन रेखा की वैधता पर प्रश्न उठाया। अंततः पाकिस्तान के लिए स्व-निर्धारण का आशय यह था कि पाकिस्तान की कश्मीर के लोगों के समान अधिकार की मांग औचित्यपूर्ण थी। पाकिस्तान से स्थलरुद्ध दर्जे की अफगानिस्तान की मांग पर उसका समर्थन न करने का निर्धारण करने में भी निरंतरता एक प्रमुख कारक थी, चूंकि नेपाल भारत द्वारा प्रस्तुत किए गए किसी भी तर्क का निश्चित तौर पर प्रयोग समान मांग के लिए कर सकता था। दूसरे, स्वतंत्रता के पश्चात् पाकिस्तान के साथ संबंध स्थापित करने की इच्छा थी, भारत ने यह आशा व्यक्त की थी कि कश्मीर में 1948-49 के युद्ध-विराम के बाद पाकिस्तान के साथ संबंध दोनों देशों के बीच ऐतिहासिक संबंधों को जारी राने और उन्हें पुनःप्रवर्तित करने में सहायता प्रदान करेंगे।

तथापि, अफगानिस्तान से संबंधित दो मुद्दों पर भारत की स्थिति के लिए दिए गए मुख्य कारण के रूप में निरंतरता पर अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में विशिष्टता के रूप में समान रूप (अथवा कभी नहीं) विचार नहीं किया गया है; इसे सुविधाजनक होने पर हटा दिया गया है क्योंकि जब, उदाहरण

के लिए, भारत जैसे विशाल देश की एक मामले में निम्न तटवर्ती की स्थिति होती है तथा दूसरे में ऊपरी तटवर्ती की। जैसाकि पहले संकेत किया गया है, नेहरू भी एक ऐसे समय पर, जब यह अनिर्णित था, एनडब्ल्यूएफपी के भविष्य को लेकर स्वयं निरंतरता लिए नहीं थे। जहां तक पाकिस्तान के साथ मधुर संबंधों की इच्छा की बात थी, यह हम इस स्पष्टीकरण के रूप में कौटिल्य की वास्तविक राजनीतिक की परिधि से बाहर ले जाता है कि अफगानिस्तान के प्रति नीति को किस प्रकार तैयार किया गया है, परंतु एलेक्जेंडर वेंडट के सामाजिक निर्माणवाद में इसके लिए अन्तर्राष्ट्रीय संबंध में सैद्धांतिक आधार विद्यमान है। अतः अब हमें एक भिन्न सैद्धांतिक ढांचे का सहारा लेने की आवश्यकता है। यह ढांचा अफगानिस्तान के प्रति नेहरू की आठ शब्दों वाली नीति को तैयार करने की कला को समझने के लिए विशेष रूप से महत्वपूर्ण है।

यहां शक्ति और रुचि उस बात का वर्णन करते हैं जो राज्य अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में करते हैं, परंतु ये वर्णन पूर्व-निर्धारित विचार हैं। 'अंतर्राष्ट्रीय नीतियों में शक्ति के वितरण का अर्थ हितों के वितरण द्वारा महत्वपूर्ण भाग में निहित किया गया है....तथा इसके द्वारा हितों की विषय-वस्तु में विचारों द्वारा महत्वपूर्ण भाग में निहित की गई है।' अतः यह अंतर्राष्ट्रीय नीतियों के बारे में विचार हैं जो यह कार्यवाहियों के लिए तात्त्विक कारण गठित करते हैं। ये वह अर्थ है, जो मानवजाति शक्ति के वितरण और हितों के इर्द-गिर्द निर्मित करती है, ऐसे अर्थ है जो विचारों पर आधारित होते हैं, जो निर्णयों के लिए किए जाते हैं। जबकि तात्त्विक परिस्थितियां, हित और विचार निर्णय लिए जाने के लिए त्रिपक्षीय आधार गठित करते हैं, कौटिल्य समान तात्त्विक परिस्थितियों और हितों का निर्वचन एक तरीके से कर सकते हैं तथा जवाहरलाल नेहरू दूसरे तरीके से। सभी प्रकार की बातें इसके अनुसार चलती हैं : पहचान, विचारधारा, संस्कृति, अनुकरण और सामाजिक शिक्षण। सामूहिक आस्थाएं उस तरीके का अभिन्न भाग होती हैं जिनसे तात्त्विक परिस्थितियां और हित विचारों के माध्यम से निर्वाचित किए जाते हैं। ये भांतियां, वर्णन और परंपराएं होती हैं जो यह निश्चित करती हैं कि समूह कौन है तथा यह किस प्रकार अन्यो से संबंधित है।²⁰ इनमें ऐसी नैसर्गिक ऐतिहासिक प्रक्रियाएं शामिल होती हैं जिन्हें सामाजीकरण और अनुष्ठानिक व्यवस्थाओं के माध्यम से जीवित रखा जाता है, जो ऐसी प्रक्रिया है जो किसी समूह की पहचान का महत्वपूर्ण भाग है। वस्तुतः अफगानिस्तान के मामले में, यह किसी हद तक साड़ी संस्कृति और इतिहास द्वारा तथा रवीन्द्रनाथ टैगोर की 'काबुलीनामा' जैसी कहानियों से गठित हुआ है जो सामान्यतः एक सामान्य प्रतिक्रिया सृजित करती है परंतु महमूद गजनी द्वारा बार-बार किए गए आक्रमणों, जो कुल मिलाकर उन्नीस थे तथा नादिर खान द्वारा किए गए हमलों और रक्त की बहती नदियों के स्मरण, स्मृति और पुनः ध्यान में आने से अधिक दृढ़ता से और नकारात्मकता से हमारे मन को कचोटता है, बीसवें दशक में ब्रिटिश द्वारा छेड़े गए अति-प्रचार के कारण उत्पन्न हुआ भय तथा हाल ही में 1947 में जम्मू और कश्मीर में अफगानिस्तान-पाकिस्तान सीमावर्ती क्षेत्रों से पठान आदिवासियों द्वारा किया गया खूनी आक्रमण, उस समय के पाकिस्तान आक्रमणों का एक अभिन्न भाग है। वेद और 'काबुलीवाला' पर्याप्त नहीं है। ये समस्त विचार उस समय हमें जरूर स्मरण होते हैं, जब भी हम भारत-अफगान संबंधों को याद करते हैं।

ये सभी बातें पाकिस्तान के साथ मैत्रीपूर्ण संबंध स्थापित करने की आम भावना तथा मार्च, 1950 में असहायता के बारे में नेहरू के आठ शब्दों के वक्तव्य का वर्णन करती हैं। विचारवादी विचारधाराओं के वकीलों द्वारा वास्तविक राजनीति के साथ संबंध बनाने के लिए अनिच्छा व्याप्त थी। अस्सी के दशक के मध्य में, उससे पूर्व और उसके उपरांत संबंध स्थापित करने की यही अनिच्छा स्पष्ट थी। न्यूनतम सहायता प्रदान की गई, ठीक उतनी ही जितनी इंदिरा गांधी बाल स्वास्थ्य केन्द्र और भारतीय सांस्कृतिक केन्द्र को चलाने के लिए पर्याप्त थी, परंतु इससे अधिक नहीं दी गई; कोई भी परियोजना सहायता नहीं थी और कोई विशाल अवसंरचना कार्य भी नहीं था। मैं यहां यह उल्लेख करूंगा कि उस समय तक विकास प्रारंभ हो चुका था। 1947 के पूर्व के काल की स्मृतियों का स्थान शीत युद्ध की बाध्यताओं ने ले लिया था।

अतः यह बड़े पैमाने पर सोवियत की इन इच्छाओं के चलते ही था कि हमने अनुभवजन्य नीति अपनाई, कोई भी ऐसी कार्यवाही न करना जो उस सामाजिक प्रणाली की सैद्धांतिक विचारधारा को न्यून बनाने का कार्य करे जो वे निर्माण करने का प्रयास कर रहे हैं। 1979-1989 की अवधि जब सोवियत संघ अफगानिस्तान में संघर्ष कर रहा था, भी शीत युद्ध के चरम की अवधि थी जो भी बात अफगानिस्तान से संबंधित थी, वह अमेरिका और सोवियत संघ के बीच संघर्ष का भाग थी तथा हमारे सोवियत संघ के साथ संबंध अधिक बेहतर थे और हम उस पर काफी निर्भर भी थे। तथापि, जब उन्होंने वहां से जाने का मन बना लिया, तो उन्होंने भारत को कहा कि वे राष्ट्रपति नजीबुल्ला को भारत की यात्रा करने का अधिकारिक निमंत्रण दे और हमने ऐसा किया भी एक और संशयपूर्ण कार्यवाही जिसने इस क्षेत्र में हमारी नीति को दाग लगाया; उनके शासन के शीघ्र और असामयिक रूप से समाप्त होने की संभावना थी, और जल्द ही ऐसा हुआ और वे इस अत्यंत महत्वपूर्ण राजकीय यात्रा पर आए, संभवतः अंतर्राष्ट्रीय समुदाय को यह बताने के लिए कि हम उनके साथ हैं।

परंतु उसके बाद 2001 में अमेरिकी आ गए, शीत-युद्ध समाप्त हो गया था और अब एक अत्यंत अलग ही दृष्टिकोण व्याप्त हो गया था, जो एकपक्षीय विश्व व्यवस्था पर आधारित था; वे चाहते थे कि हर कोई प्रत्येक संभव तरीके से उनकी सहायता करे ताकि उनके ऊपर पड़ा बोझ कम हो सके, और भारत ने ऐसा किया भी, वहां बड़ी परियोजनाएं स्थापित कीं, अवसंरचना को बढ़ावा दिया, भारत में अध्ययन के लिए अफगानिस्तान को दी जाने वाली छात्रवृत्तियों में वृद्धि की परंतु सैन्य मोर्चे पर सुविचारित तरीके से अनुपस्थिति दर्ज की। ध्यान दें कि जुलाई, 1973 के विद्रोह से पूर्व के वर्षों में ऐसी कार्यवाही पहले कभी नहीं की गई थी और जहां तक मैं समझता हूं उस पर विचार तक नहीं किया गया था (लेकिन इस समय जाहिद खान के साथ पर दाउद आ गया था तथा राजतंत्र को गणराज्य में बदल दिया गया था जब अफगानिस्तान वास्तव में एक स्वतंत्र देश था और गहन संबंध बनाकर प्रसन्न होता था अथवा अप्रैल, 1978 तक गणराज्य के पांच वर्षों में साउर क्रांति होने तक, जिसमें मार्क्सवादियों को सत्ता मिली, हालांकि दाउद ने पठान मुद्दे पर भारत आने की तथा सहयोग के लिए इंदिरा गांधी से अनुरोध करने का प्रयास किया था। परंतु नेहरू का आठ-शब्दों का सूत्र अभी तक लागू था। वहां कोई भाग्य काम नहीं आया, अतः वे अपनी बातों से पीछे हट गए और प्रीमियर भुट्टो के साथ एक सौदा किया जिसके परिणामस्वरूप पाकिस्तान और अमेरिका के बीच टकराव के

आरोप लगे, सशस्त्र सेनाओं में उथल-पुथल हुई तथा सेनाओं की सहायता की जो उन्हें बाहर करना और मार्क्सवादियों को लाना चाहता था।

फिर भी, अफगानिस्तान के भविष्य की राजनीतिक छवि को निर्धारित करने के लिए 2001 के बोन सम्मेलन के तत्काल पश्चात् भारत ने 100 मिलियन और पैकेज की घोषणा की तथा सोवियत कब्जे के समूचे दशक के दौरान और अधिक सहायता प्रदान की गई। इसके बाद भी पर्याप्त रूप से सहायता प्रदान की जाती रही; सैकड़ों घर शहरों में बनाए गए और चार अवसंरचना परियोजनाएं प्रारंभ की गईं; जारांज से देलाराम तक 218 किलोमीटर लंबी सड़क का निर्माण, जिसने अफगानिस्तान को चाबहार पत्तन से बेहतर रूप से जोड़ दिया (जो हाल ही में चालू हुआ है), सलमा नदी पर एक बांध का निर्माण, जो एक बड़ी जल विद्युत परियोजना है और 300 मिलियन डॉलर की लागत से निर्मित की गई है तथा जो हेरात प्रांत के बड़े क्षेत्र को बिजली की आपूर्ति करेगी, अफगान संसद भवन का निर्माण तथा पुल-ए-खुमरी से काबुल तक और चिमताला के उप-केन्द्र के लिए 220 केवी पारेषण लाइन। इसके अलावा, भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद की ओर से 1000 दीर्घकालिक छात्रवृत्तियां तथा भारतीय तकनीकी और आर्थिक सहयोग कार्यक्रम की ओर से 500 अल्पकालिक छात्रवृत्तियां (1979-89 के दशक के दौरान कुल मिलाकर पहले 10 और बाद में 20 प्रतिवर्ष से तुलना कीजिए) तथा अनेक अल्प विकास परियोजनाएं जिसमें कुल प्रतिबद्धता 2 बिलियन डॉलर थी तथा जो द्विपक्षीय सहायता में भारत को पांचवें स्थान पर ले गई। इसके बाद, अमेरिका ने घोषणा की कि वह 2014 के बाद अफगानिस्तान से वापस लौट जाएगा और भारत ने अपने कदम वापस खींच लिए, छोटे स्तर की परियोजनाओं (एसडीपी) पर अधिक ध्यान दिया गया, बड़ी संख्या में लोगों ने यह कहना शुरू कर दिया कि एसडीपी ही हैं जो उन सफलता गाथाओं को आगे ले जाएगी जिनके द्वारा भारत की सहायता अनेकानेक वर्षों में सभी द्विपक्षीय दाताओं के मध्य सर्वाधिक लोकप्रिय और स्वीकार्य माना जाएगा। वस्तुतः इसके लिए यह कारण दिए गए: अंतर्राष्ट्रीय (अमेरिका पढ़ें) सैन्य टुकड़ियों की वापस के उपरांत सुरक्षा व्यवस्था समस्यापूर्ण हो जाएगी, एसडीपी अफगानिस्तान की विकासात्मक आवश्यकताओं के लिए सर्वाधिक उपयुक्त बन गई है; यह निर्णय वस्तुतः उस बात के लिए एक प्रतिक्रिया के समान था कि अफगानिस्तान उन प्राथमिकताओं के बारे में क्या सोचता है। वास्तव में इस बात का उत्तर समय ही देगा परंतु यहां इस संदेह को छिपाने की कोई आवश्यकता नहीं है कि यह नई कार्यनीति एकपक्षीय शक्ति के उद्देश्यों में परिवर्तन लाने के लिए सटीक कार्यवाही करने का सामान्यतः एक तरीका है।

तीसरा सिद्धांत: संस्कृति और अंतर्राष्ट्रीय संबंध

यह वास्तव में कहानी का अंत नहीं है। स्पष्टतः यदि यह ऐसा होता, तो अफगानिस्तान के साथ संबंध अलग स्तर पर नहीं होते, उदाहरण के लिए अर्जेंटीना और मोरक्को के साथ विद्यमान संबंधों की तुलना में। परंतु ये उनसे भिन्न हैं; यहां पर साझे ऐतिहासिक अनुभव की भावना कहीं अधिक है, भले ही उनमें कितना भी रक्त बहा हो, फिर भी साझी संस्कृति, संगीत, भाषा और परंपरा की भावना विद्यमान है जो स्वाभाविक रूप से वित्तीय प्रतिबद्धताओं के परिमाण की व्यापक स्वीकार्यता और इनका निर्णय लेने के उत्साह का वर्णन करने के लिए सामने आती है कि क्यों

भारतीय अफगानी शरणार्थियों और अन्यों के प्रति इतना आतिथ्य-सत्कार प्रदर्शित करते हैं, इन दोनों पक्षों के बीच सहजता का स्तर पर्याप्त है जिसके बारे में डेविड मोरादिन ने लिखा है। आप इसे अफगानिस्तान में बैठकर महसूस कर सकते हैं, अफगान मित्रों के साथ शाम को बैठिए, तो वे भारतीय संगीत, कविताओं, फिल्मों के बारे में जिस तरह से प्रतिक्रिया व्यक्त करेंगे, उस प्रकार की भावना केवल दक्षिण एशिया में ही पाई जा सकती है। इसे एक सैद्धांतिक ढांचे में परिवर्तित करने के लिए हम एक तीसरे सिद्धांत की ओर लौटते हैं, जिसमें संबंधों को भली-भांति रखा जा सके : रिचर्ड लेबो का अंतर्राष्ट्रीय संबंधों पर सांस्कृतिक सिद्धांत।

इसके अनुसार, राष्ट्रों और लोगों के बीच संबंधों के क्षेत्र में प्रचलित होने वाले चार कारक हैं : भावना, अभिलाषा, कारण और भय।

इन चार कारकों में से, लेबो उसके इतिहास के विकास में विद्यमान भावना को केन्द्रीय स्थिति प्रदान करता है, तथा यही यह अंतर्राष्ट्रीय संबंध के बारे में अन्य सिद्धांतों से काफी भिन्न है। जहां यह भावना, व्यक्तिगत और सामूहिक रूप से सम्मान और पक्ष तथा स्वाभिमान चाहने वाले लोगों पर प्रधानता से हावी रहती है जो स्वयं का महत्व समझने की भावना है और उन्हें अपने बारे में अच्छा महसूस करती है। इसकी तुलना में, आत्मसम्मान के लिए वस्तुतः स्व-भावना की आवश्यकता होती है, परंतु इसके अलावा और अत्यंत महत्वपूर्ण रूप से, समाज के लिए स्व की भावना की आवश्यकता भी होती है। और यह सम्मान और पदानुक्रम के साथ, समाज में स्वयं की स्थिति अथवा अंतर्राष्ट्रीय समाज में राष्ट्र की स्थिति से भी घनिष्ठतः जुड़ी होती है। जितना ऊंचा आपका स्तर होगा, उतने ही अधिक विशेषाधिकारों का आप आनंद लेंगे, परंतु साथ ही अपनी भूमिका भी उतनी ही चुनौतीपूर्ण होगी। ग्रीक समुदाय, विशेष रूप से जिसका चित्रण होमन के इल्याद में किया गया है, भावना के आधार पर इसका सटीक चित्रण करता है जहां सम्मान और पद को समुचित रूप से महत्व दिया गया है। इसके फलस्वरूप, सम्मान के लिए एक प्रतिस्पर्धी तलाश प्रारंभ होती है जो मुख्यतः स्वतः उत्पन्न होने वाले प्रबुद्ध वर्ग तक ही सीमित होती है, चूंकि ऐसे समाज में ऊर्ध्व-संचलनता सीमित होती है जैसा कि वस्तुतः भारत और अफगानिस्तान, दोनों ही के मामले में है। परंतु समुद्ध वर्ग, समाज के प्रति एक सुदृढ़ भावना महसूस करता है, जो अत्यंत वृहद् होती है। ऐसे समाजों में युद्ध प्रायः होते रहते हैं, परंतु ये अपनी व्याप्ति और परिणाम में सीमित होते हैं तथा नियमों द्वारा प्रशासित होते हैं। सहयोग वस्तुतः यहां मानदण्ड होता है, जो मैत्री, समान वंश और समुद्ध वर्ग के सदस्यों के मध्य पारस्परिक बाध्यता की भावना पर आधारित होते हैं। जहां तक भारत और अफगानिस्तान का संबंध है, यही पर सभ्यात्मक संबंध, संस्कृत और संगीत, भाषा और साहित्य आते हैं। ऐसे संबंध संबंधों को गहराई प्रदान करते हैं, उन्हें वैयक्तिकता की प्रकृति प्रदान करते हैं जिनमें शताब्दियों के संपर्कों के माध्यम से साझे लक्ष्य, भावना के सिद्धांतों को हासिल करने की इच्छा निहित होती है तथा जो केवल ऐसे पड़ोसियों के मध्य ही विद्यमान हो सकता है जिन्होंने एक लंबे समय से अनुभवों के विभिन्न आयाम साझे किए होते हैं अथवा कर रहे होते हैं जिनमें सहयोग से विवाद के सभी स्तर शामिल होते हैं।

यह जिस बात को जोड़ने की आवश्यकता है, वह यह है कि हालांकि यह भावना-आधारित संबंध मोटे तौर पर सहयोग, सभ्यात्मक संबंधों, सामान्य संस्कृति अन्य कारकों के बारे में है जैसे अभिलाषा, जिसका अर्थ है अर्जित करने की लालसा तथा भय, जहां एक राजतंत्र विश्व अथवा प्रादेशिक व्यवस्था, एक ही समय पर संयुक्त रूप से रह सकती है, तथा ये अन्य कारक समय के साथ-साथ प्रधानता हासिल कर सकते हैं। अभिलाषा समाज के प्राथमिक लक्ष्य के रूप में संपत्ति अर्जित करने के अभियान को भी इंगित करती है तथा यह स्पष्ट रूप से भारत के अफगानिस्तान के साथ संबंधों में एक दीर्घकालिक महत्व का विषय नहीं है। जहां तक भय की बात है, यह संबंध अत्यंत विवादास्पद है, जिसकी विशेषता 'शस्त्र होड़, पारस्परिक विकास, संधियां और अग्रिम तैनाती' है। यह वस्तुतः भारत के पाकिस्तान के साथ के संबंध को विशिष्टीकृत करता है, परंतु यह तब तक संभव नहीं होगा जब तक अफगानिस्तान इस बारे में चिंतित है (सिवाए आपदा का उस प्रकार की आपदा को छोड़कर, जहां अफगानिस्तान पक्ष खुले तौर पर पाकिस्तान के साथ है)

फिर भी, अन्य दो कारकों का सह-अस्तित्व उस बल को रेखांकित नहीं करता है जो सहयोग के विकास, अधिक सांस्कृतिक आदान-प्रदानों, अधिक सांस्कृतिक केन्द्रों, अधिक छात्र संपर्कों और उन सभी सहकारिता उद्यमों पर प्रदान किया जाना होता है जो भावना आधारित संबंध के प्रधान को स्थापित करता है। निःसंदेह, आर्थिक सहयोग निरंतर महत्वपूर्ण बना हुआ है, और वस्तुतः दोनों ही छोटी परियोजनाओं पर अब बल दिया जा रहा है तथा वृहद् परियोजनाएं भी सही मार्ग पर हैं जैसे पूर्व में संचालित चार अवसंरचना परियोजनाएं जिनमें से ये वृहद् परियोजनाएं पर्याप्त प्रभाव डाल रही हैं।

ट्रम्प की नीति और क्षेत्रवाद

तथापि, यह प्रतीत होता है कि सर्वाधिक महत्वपूर्ण हालिया घटनाक्रम इस विषय पर नए सिरे से चिंतन करने की आवश्यकता को रेखांकित करना है, जो केवल संस्कृति और भावना के अलावा वस्तुतः अन्य अवयवों को शामिल किए जाने की और कौटिल्य तक वापस जाने की आवश्यकता है। वहां दो मुख्य घटनाक्रम हुए थे : राष्ट्रपति ट्रम्प के प्रशासन के अंतर्गत नई यूएस नीति तथा दो सौ वर्ष के अंतराल के पश्चात् संपूर्ण दक्षिण एशियाई क्षेत्र में क्षेत्रवाद की वापसी।

ट्रम्प की नीति को सामान्यतः गलत समझा गया है तथा यह कहीं भी अफगानिस्तान के मामले के अलावा किसी भी और इतनी स्पष्ट नहीं है, क्योंकि वस्तुतः यह एक नई नीति है और एक प्रमुख विपथन है। फिर भी हमें यह स्वीकार करना होगा कि वे अपनी नीति के वक्तव्यों का ही प्रायः खंडन करते हैं।

पृष्ठभूमि के अनुसार, तथा इसे समझने में सहायता प्रदान करने के लिए, इस बात का वर्णन करने की आवश्यकता है कि अफगान, अपने द्वारा धारित की गई एक व्यापक आस्था के विपरीत, वस्तुतः युद्ध में आसानी से पराजित किए जा सकते हैं, इसका अर्थ यह है कि ऐसे युद्धों में जिनमें आधुनिक सेनाएं शामिल होती हैं, ऐसा बार-बार मुगलों, रंजीत सिंह के साम्राज्य तथा ब्रिटिश द्वारा किया गया है। तथापि, अफगान का अधीनस्थ रहना एक भिन्न मुद्दा है। जिस किसी ने भी अफगान सेनाओं को पराजित किया, उनमें से कोई भी वैयक्तिक रूप से अफगान को अधीन करने में समर्थ नहीं हुआ, वास्तव में उन्हें अधीनस्थ बनाना एक कठिन कार्य है, और यहां तक अफगान शासकों के

अंतर्गत, अफगानिस्तान पठानी और रावाज की वैयक्तिकता की उनकी भावना उन्हें नियंत्रण में रखना मुश्किल बनाती है। उन पर इस प्रकार शासन किया गया है, प्रथमतः अफगान एकता के संस्थापन अहमद शाह, जो अब्दाली जनजाति से संबंध रखते थे (बाद में ये दुरानी अथवा इसकी मोहम्मदजई शाखा हुई) द्वारा पच्चीस वर्ष के लिए और उसके बाद छोटी-छोटी अवधियों में अन्य शासकों द्वारा तथा अंत में उसी परिवार के जाहिर शाह द्वारा जो 1933 में सम्राट बने और 1974 तक शासन किया। संस्थापक मजबूत नेता थे और अन्य शासक, जो शासन करने के इच्छुक थे, उन्हें भी समान रूप से सुदृढ़ होना आवश्यक था अन्यथा असंतोष और विद्रोह फैल सकता (हालांकि हमने यह देखा कि वैध शासकों के रूप में मोहम्मदजई परिवार को स्वीकार्यता की गई) है परंतु अफगानों ने अपने स्वयं के शासकों का उनकी योग्यता को मान्यता देते हुए सम्मान तो किया (सिवाए उन अफगान शासकों के जो बाहर से आए थे और जिन्होंने ब्रिटिश और सोवियत संघ के समान ही शासन करने का प्रयास किया); परंतु ऐसा सम्मान विदेशियों और उन सभी शासकों को नहीं मिल सका जिन्होंने उन पर शासन करने अथवा उन्हें अपने अधीन रखने का प्रयास किया था, अर्थात् ब्रिटिश, सोवियत संघ और बाद में अमेरिकी, वे सभी अपने प्रयासों में विफल हो गए थे। ब्रिटिश ने एक राजनीतिक दल और विचारधारा के माध्यम से शासन करने का प्रयास किया जिसमें एक छोटे शिक्षित और वामपंथी शहरी समृद्ध-वर्ग का अभ्युदय होने के बावजूद हर क्षेत्र में इतना घोर विरोध किया गया अफगान ने इसे सर्वनाश की संज्ञा दी थी, सोवियतों ने लोकतांत्रिक और संवैधानिक राष्ट्र निर्माण की जटिल प्रणाली के साथ प्रयास किया, जो इस कारण से अत्यंत विषय प्रतीत हुई क्योंकि वे भी यह सुनिश्चित करना चाहते थे कि अफगानिस्तान में पाकिस्तानी परिसंपत्तियों का पूर्णतः उन्मूलन नहीं हुआ था। यह स्मरण करें कि पाकिस्तान के समर्थन से तालीबान सत्ता में आया (शुद्धि उसी प्रकार जैसे 1979 में बराक कर्माळ ने सोवियत शक्ति से शासन किया था); वह इसीलिए कि अमेरिका ने उग्रवाद को अपनी शस्त्र और धनराशि की आपूर्ति करने की नीतियों के माध्यम से यह सुनिश्चित किया था कि वे पाकिस्तान सभी विद्रोही गुटों पर नियंत्रण कर लेगा और वे पांच वर्ष के लिए आने में एक निर्णायक भूमिका निभाएंगे, और यह कि उन वर्षों के दौरान पाकिस्तान की सैन्य टुकड़ियां और सेवा के 'सलाहकार' ही प्रशासन चलाएंगे। अतः वह पाकिस्तान के नेतृत्व में और पाकिस्तान द्वारा सशस्त्र बनाया तालीबान था जिसने 1994-96 के वर्षों में अफगानिस्तान का कार्यभार ग्रहण किया और पाकिस्तान ने उसके बाद वर्ष 2001 तक राज्य के प्रशासन का संचालन किया। यह पौराणिकता का साक्ष्य है कि तालीबान ने एक विचारधारा (जो कुल मिलाकर समस्त अफगान परंपरा के विरुद्ध थी) की शक्ति पर और उनके अपने बल से मदरसों के शिक्षित छात्रों के रूप में सत्ता हासिल की। परंतु अफगानों को अधीन नहीं रखा जा सका तथा यदि पाकिस्तान ने अफगानिस्तान में प्रभाव हासिल करने का प्रयास किया था, जिसके लिए यह अमेरिका ने पूर्णतः वापस जाने के उपरांत ऐसा करने के लिए प्रतीक्षा कर रहा था, वह भी अभी एक मामला बना हुआ था।

परंतु अमेरिका इस प्रयास में सहायक बना हुआ था, उन्होंने अपनी नवम्बर, 2001 का आक्रामक रवैया रोक दिया ताकि पाकिस्तान तालीबान और उसकी अपनी सैन्य टुकड़ियों को भारी हमले की कार्रवाई से पूर्व वहां से हटा सके। यदि तालीबान को पर्याप्त रूप से हानि पहुंचाई गई होती, तो भारत के लिए उस समय अनुकूल सेनाओं अर्थात् उत्तरी गठबंधन, जिसे तालीबान शासन के वर्षों

में भारत द्वारा निरंतर हथियार और सहयोग प्रदान किया गया था, के पास एक साफ क्षेत्र विद्यमान होता, और यह पाकिस्तान को बिल्कुल भी स्वीकार्य नहीं होता जबकि अमेरिका भी अफगानिस्तान का सहयोगी नहीं था। इसे प्रायः नज़रअंदाज किया जाता है तथा इस पर विश्वास करना कठिन है, परंतु यह स्पष्ट है कि अमेरिका पाकिस्तान की स्थिति को समाप्त नहीं करना चाहता था तथा मुझे उनकी कार्यवाहियों के लिए कोई अन्य स्पष्टीकरण दिखाई नहीं देता है, जो अत्यंत दीर्घसूत्रता वाली थी जिसके द्वारा उन्होंने 2001 के अंत में कार्यवाही की थी, जो उनके पूर्णतः तैयार होने के काफी समय बाद हुआ था,²³ वे एक ऐसा संतुलन चाहते थे जिसमें अफगानिस्तान की आतंकवादी क्षमता को समाप्त किया जा सके, एक सौम्य लोकतांत्रिक सरकार कार्यभार संभाले, परंतु पाकिस्तान ने वहां पर्याप्त प्रभाव बनाए रखा। राष्ट्र निर्माण ओबामा प्रशासन का घोषित उद्देश्य था परंतु उसका लक्ष्य केवल एक स्वतंत्र और लोकतांत्रिक अफगान राष्ट्र का निर्माण करना ही नहीं था बल्कि इससे भी महत्वपूर्ण, ऐसी सरकार रखना भी था जो पाकिस्तान के साथ मैत्री रखे। इसी वजह से यह मामला जटिल बना और अंततः इसकी प्राप्ति असंभव हो गई: वहां अनेक लक्ष्य विद्यमान हो गए थे। अतः वर्ष 2005 के बाद से तालीबान ने, पाकिस्तान के साथ सहयोग करते हुए वर्ष-दर-दर प्रगति की और वह मजबूत बनता गया तथा गठबंधन सेनाओं पर उनके आक्रमण अधिक घातक हो गए। यह विश्वास करना असंभव है कि यह पूर्णतः अपने ही देश में तैयार की गई और घरेलू सेना थी तथा यह विश्वास करना कठिन है कि इसका संपूर्ण नेतृत्व पाकिस्तान के भीतर स्थित था और निःसंदेह ही इसके सभी ठिकाने पाकिस्तान की सशस्त्र सेनाओं को ज्ञात थे, जो वस्तुतः नहीं चाहता था कि उस नेतृत्व की समाप्ति की जाए, परंतु यह सत्य है कि इस बारे में आग्रह नदारद था। ओबामा के अंतर्गत, पाकिस्तान समस्या नहीं थी, भारत समस्या थी।

ट्रम्प ने उस जटिलता का उन्मूलन किया तथा उस नीति को बदल दिया, राष्ट्र निर्माण इतनी कम सैन्य टुकड़ियों के साथ संभव नहीं है तथा इसे खुले तौर पर त्याग दिया गया। इसके अलावा, पाकिस्तानी हितों के लिए चिंताएं समाप्त कर दी गईं; वस्तुतः ट्रम्प इस बात को अत्यंत दृढ़ता से व्यक्त करते थे कि पाकिस्तान अफगानिस्तान में क्या कर रहा है, तथा उन्होंने फार्टम्येर सैन्य ठिकाने, अर्लिनटन में अगस्त, 2017 को यह कहा कि अमेरिका पाकिस्तान को बिलियन डॉलर दे रहा है जबकि पाकिस्तान उसी समय उन आतंकवादियों को शरण दे रहा है जिनके विरुद्ध अमेरिका संघर्ष कर रहा है, तथा ये सभी बातें अब बदलनी चाहिए। इस विषय पर शंकाओं का निराकरण करने के लिए उन्होंने 1 जनवरी, 2018 के ट्वीट को दोहराया कि अमेरिका की उदारवादी सहायता के उत्तर में, "उन्होंने हमें और कुछ तो नहीं, बल्कि झूठ और धोखा दिया है, हमारे नेताओं को मूर्ख समझा है....लेकिन अब और नहीं।" यह एक स्पष्टतः कहा गया संदेश है कि पाकिस्तान का हित अब आगे अमेरिका के लिए सर्वोपरि नहीं रह गया है। अगस्त, 2017 के उसी पैरा में भारत की यह कहते हुए प्रशंसा की गई है कि अमेरिकी नीति के लिए यह महत्वपूर्ण है कि विश्व के इस भाग में भारत के साथ इसकी रणनीतिक भागीदारी और मजबूत हो।

अतः जहां तक अमेरिकी सैन्य टुकड़ियों का संबंध है, वे वहां उत्साह में वृद्धि करने के लिए विद्यमान हैं,²⁴ एक ऐसा संकेत है कि अमेरिका की आर्थिक सहायता जारी रहेगी (जिसके बिना

अफगानिस्तान उसकी रक्षा सेनाओं का व्यय नहीं उठा सकता) है तथा वे एक अन्य उद्देश्य की पूर्ति भी करती है, जो संभवतः अनाशयित है: एक प्रकार के जमानत के रूप में, ताकि पाकिस्तान के नेतृत्व वाले तालीबान के आक्रमण और उसके द्वारा वहां अधिपत्य जमा लेने से बचा जा सके। तालीबान तब तक वहां नियंत्रण नहीं बना सकता है, जब तक वहां अमेरिकी सैन्य टुकड़ियां हैं तथा वहां वियतनाम जैसी स्थिति बनी हुई है; वे इतने सुदृढ़ नहीं हैं तथा उन्हें आक्रमण का नेतृत्व करने के लिए एक अनिवार्य सहायता के रूप में अनियमित पाकिस्तानी सैन्य टुकड़ियों की आवश्यकता है। क्या अमेरिका की सैन्य टुकड़ियां इतनी कम संख्या में वहां अनिश्चित काल तक रहेंगी? संभव है, परंतु यह स्मरण रहे कि ये टुकड़ियां वहां आक्रमणों का सामना कर रही हैं, जैसाकि कोरिया के मामले में नहीं था, अतः किसी भी राष्ट्रपति पर घरेलू मोर्चे पर उन्हें वापस बुलाने के लिए निरंतर बदाव बन रहा होगा तथा एक दिन संभवतः ऐसा किया भी जाएगा। इस दौरान, पाकिस्तान एक ऐसी सत्ता के अंतर्गत पहले की तुलना में और अधिक दृढ़ संकल्प है जिसमें सशस्त्र सेनाओं को सर्वाधिक शक्तियां प्राप्त हैं ताकि यह सुनिश्चित किया जा सके कि अफगानिस्तान में उभरने वाले घटनाक्रमों को पूरी तरह प्रभावित किया जाए अथवा अपने नियंत्रण में रखा जाए। मेरे अपने दृष्टिकोण से वहां अब ऐसा होना चाहिए कि जब तक कुछ वर्षों तक वहां अमेरिका की फौज विद्यमान है, तो यही समय है कि भारत वहां साथ मिलकर अपनी कोई कार्रवाई करे, यदि यह करना चाहता है परंतु यह स्थिति संभवतः ऐसी नहीं है जो काफी लंबे समय तक बनी रहने वाली है।

इससे हमारे सामने क्षेत्रवाद का प्रश्न आता है। हाल के वर्षों में, भारत ने दक्षिण एशिया से बाहर एक वृहद भूमिका निभाने के लिए कदम उठाए हैं जहां एक लंबे समय से इसके पारंपरिक हितों पर ध्यान-केन्द्रित किया गया था। यह एक पूर्व-संकेत था तथा 1992 के बाद से आसियान के साथ धीरे-धीरे विस्तारित होते संबंध थे, जिनमें 2012 में भारत-आसियान रणनीतिक भागीदारी का प्रारंभ भी शामिल था तथा वस्तुतः गणतंत्र दिवस, 2018 के अवसर पर नवीनतम शिखर-सम्मेलन भी था। तथापि, अब पश्चिम की ओर विस्तार करने की एक तात्कालिक आवश्यकता प्रतीत होती है। अफगानिस्तान के साथ अक्टूबर, 2011 का रणनीतिक भागीदारी करार संबंधों को उच्च स्तरों तक ले जाने की परिकल्पना करता है जिसमें घनिष्ठ राजनीतिक सहयोग, नियमित राजनीतिक और विदेश कार्यालय परामर्श तथा संयुक्त राष्ट्र में सहयोग भी शामिल है। यह स्पष्टतः हमारे व्यापक हितों का संरक्षण सुनिश्चित करने के लिए पर्याप्त नहीं है, एक बार जब बलों का संतुलन परिवर्तित होना प्रारंभ हो जाएगा।

हमारे लिए, भारत-रूस संबंधों की प्रकृति विकसित हो चुकी है, यह केवल एक दृढ़ भागीदारी, जो कभी हुआ करती थी, और अफगानिस्तान में रूसी हितों का मामला नहीं है, विशेषतः तालिबान के साथ वार्ता करने के लिए उनके सहयोग की इच्छा बल्कि पाकिस्तान के साथ उनके घनिष्ठ संबंधों की ही बात नहीं है, बल्कि यह तथ्य भी है कि वे पश्चिम से आने वाले दबाव का सामना करने के लिए एक सहायता के रूप में चीन के साथ संबंध बनाने का विकल्प भी देख सकते हैं, तथा यह स्थिति भारत के विरोधाभास में है। एक अन्य कारण से, चीनी आज पूर्व की तुलना में अपने हितों को काफी आक्रामकता के साथ साधने का प्रयास कर रहे हैं, जो भारतीय नीतियों के अनुकूल नहीं है,

जब कि ईरान भी वैसा मित्र नहीं है, जैसा हम उसे चाहते हैं। यह स्पष्ट है कि जब अमेरिका वापस जाएगा तथा प्रादेशिक सेनाएं वहां स्थापित होगी, तो पड़ोसी क्षेत्रीय शक्तियाँ द्वारा हमारे हितों का समर्थन किया जाना आवश्यक नहीं होगा। इस विषय पर हालिया साहित्य यह सुझाता है कि अमेरिका का पतन एक ओर चीन के लिए प्रादेशिक हित की स्थिति है, और दूसरी ओर भारत, जापान, आस्ट्रेलिया और अमेरिका के बीच भागीदारी भी उभरी है²⁵ परंतु अमेरिका अफगानिस्तान को एक प्राथमिकता नहीं मानता है, अतः भारत को कहीं और सहायता प्राप्त करने की आवश्यकता है अथवा उस देश में अपने हित को साधने के लिए उसे अकेला ही चलना होगा। अतः आने वाले वर्षों में इस क्षेत्र में बाहरी हितों की रूपरेखा का यह अभिप्राय है कि हमें यह सुनिश्चित करते हुए सावधान रहना चाहिए कि इससे हमारी सुरक्षा पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ता है।

अतः अफगानिस्तान के साथ 2011 के रणनीतिक भागीदारी करार तथा हमारी समग्र नीतियों²⁶ की विषय-वस्तु पर एक बार पुनः विचार किए जाने की आवश्यकता है तथा रणनीति में मजबूती के लिए एक वृहद अवयव को शामिल करने की भी जरूरत है। हम यहां उस स्थिति में लौट सकते हैं जिसके बारे में डेविड मोराडिन ने लिखा था और सुझाव दिया था कि अब हम व्यापक सांस्कृतिक समानताओं, पारस्परिक भरोसे और राजनीतिक, आर्थिक और सुरक्षा संबंधी अनिवार्यताओं को एक प्रभावी, संभावित भागीदारी में रूपांतरित करने के लिए विवश हैं, जिसे वस्तुतः उस विकासात्मक रणनीति में शामिल किया जा सकता है, जिसका हमने अब तक अनन्य रूप से अनुपालन किया जा सकता है, जिसका हमने अब तक अनन्य रूप से अनुपालन किया है। हमें रूस के साथ अपने संबंधों के भविष्य के बारे में भी पुनः चिंतन करने की आवश्यकता है ताकि अमेरिका की वापसी के बाद पृथक्वाद से बचा जा सके। ऐसा करने के लिए दक्ष राजनयिकता की आवश्यकता होगी।

परंतु इस बात को रेखांकित करना महत्वपूर्ण है कि जिस बात की तत्काल आवश्यकता है, वह इस प्रक्रिया को अत्यंत तेजी से प्रारंभ करना है ताकि इस संदेह को दूर किया जा सके कि पठान लोग भारत की मंशाओं का समर्थन करते हैं और उनका विश्वास अर्जित कर लिया जाए तथा रूस के साथ लेन-देन का संबंधी स्थापित किया जाए जिसमें अतीत की संवेदनशीलताएं न हों तथा जिसके फलस्वरूप अफगानिस्तान के साथ प्रासंगिक मुद्दों पर एक व्यापक समझ स्थापित की जा सके।

पाद-टिप्पणियां :

- 1 के.पी.एस. मेनन, दिल्ली-चुंगकिंग, एक यात्रा डायरी, ओयूपी नई दिल्ली, 1947, पृ. 29, अप्रैल 1948 से सितंबर 1952 तक विदेश सचिव।
- 2 जे.एन. दीक्षित, अक्रॉस बॉर्डर्स, फिफ्टी इयर्स ऑफ इंडियन फॉरेन पॉलिसी, पिकस बुक्स, नई दिल्ली, 1998, पृ. 25, दिसंबर 1991 से जनवरी 1994 तक विदेश सचिव। चाणक्य कौटिल्य का दूसरा नाम है।
- 3 ए . अप्पादुरई और एम.एस. राजन, भारत की विदेश नीति और संबंध, साउथ एशिया पब्लिशर्स, नई दिल्ली, 1985, पृ. 29.
- 4 नेहरू द्वारा विदेश नीति के सबसे पुराने भाषणों में से एक में प्रयुक्त वाक्यांश, देखिए जवाहरलाल नेहरू, इंडियाज़ फॉरेन पॉलिसी, चयनित भाषण, सितंबर 1946-अप्रैल 1961, प्रकाशन विभाग, भारत सरकार, 1961, पृष्ठ 19.
- 5 जवाहरलाल नेहरू, इंडियाज़ फॉरेन पॉलिसी, चयनित भाषण, सितंबर 1946-अप्रैल 1961, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, दिल्ली, 1961, ओपी.सीआईटी. पृष्ठ .79.
- 6 कौटिल्य का अर्थशास्त्र, डॉ. आर. शमास्त्रास्त्री द्वारा अनुवादित, मैसूर प्रिंटिंग एंड पब्लिशिंग हाउस, मैसूर, 1967, पृष्ठ 242.
- 7 हंस जे. मोर्गेथाउ, पॉलिटिक्स इन नेशंस, द स्ट्रगल फॉर पावर एंड पीस, साइंटिफिक बुक एजेंसी, कलकत्ता, 1966. उद्धरण पृष्ठ 5 और 10 से लिए गए हैं।
- 8 देखें केनेथ वाल्ट्ज, अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का सिद्धांत, एडिसन वेस्ले, रीडिंग, मास., 1979
- 9 देखें हसन अली शाह जाफरी. ओपी.सीआईटी. पृष्ठ 6, एफएन.11
- 10 यह सतेंद्र कुमार लाम्बा, द डुरंड लाइन, एस्पेन इंस्टीट्यूट, इंडिया के पॉलिसी पेपर नंबर 4 में उद्धृत किया गया है, 2011, पृष्ठ 24.
- 11 हसन अली शाह जाफरी, भारत-अफगान संबंध (1947-67), स्टर्लिंग पब्लिशर्स प्रा. लिमिटेड, नई दिल्ली, 1976, पृष्ठ 15
- 12 डेविड फ्रोम्किन, ए पीस टू एंड ऑल पीस, एवन बुक्स, न्यूयॉर्क, 1989, पृष्ठ 422
- 13 हसन अली शाह जाफरी द्वारा उद्धृत, भारत-अफगान संबंध (1947-67), स्टर्लिंग पब्लिशर्स प्रा. लि., नई दिल्ली, 1976, पृष्ठ.17.
- 14 यंग इंडिया, 18 मई, 1921.

- 15 डी.जी. तेंदुलकर , महात्मा का जीवन, वॉल्यूम VIII, बॉम्बे, 1954, पृष्ठ 110-11.
- 16 वी.पी. मेनन, द ट्रांसफर ऑफ पावर इन इंडिया, ओरिएंट लॉन्गमैन, कलकत्ता, 1957, पृष्ठ 363.
- 17 देखें हसन अली शाह जाफरी, ओपी. सिट. पृष्ठ 70
- 18 जवाहरलाल नेहरू, ओपी. सिट. पृष्ठ 289.
- 19 अलेक्जेंडर वेन्ड्ट, सोशल थ्योरी ऑफ इंटरनेशनल पॉलिटिक्स, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, 1999, पृष्ठ 135
- 20 अलेक्जेंडर वेन्ड्ट, ओपी. सिट. पृष्ठ 163.
- 21 रिचर्ड नेड लेबो, अंतर्राष्ट्रीय संबंधों का एक सांस्कृतिक सिद्धांत, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, 2008
- 22 रिचर्ड नेड लेबो, ओपी. सिट. पृष्ठ 90.
- 23 देखें आई.पी. खोसला , अंडरडॉग्स एंड एम्पायर , ए मेमॉयर , कोणार्क पब्लिशर्स , दिल्ली, 2010, विवरण के लिए पृष्ठ 320.
- 24 जैसा कि राष्ट्रपति अशरफ घानी ने इस वर्ष 16 जनवरी को यूएस 'साठ मिनट' कार्यक्रम में कहा था, 'हम अमेरिका की सहायता और अमेरिकी क्षमताओं के बिना हमारी सेना को छह महीने तक समर्थन नहीं दे पाएंगे। क्योंकि हमारे पास पैसा नहीं है'।
- 25 देखें बैरी बुज़ान और ओले वीवर. क्षेत्र और शक्तियाँ: अंतर्राष्ट्रीय सुरक्षा की संरचना. कैम्ब्रिज: कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, 2003, पृष्ठ 564. पीटर जे. कटजस्टीन. ए वर्ल्ड ऑफ रीजन: एशिया एंड यूरोप इन द अमेरिकन इम्पेरियम. इथाका, एन.वाई.: कॉर्नेल विश्वविद्यालय प्रेस, 2005, पृष्ठ 297.
- 26 उदाहरण के लिए, पश्तून एकता के सवाल और स्थलरुद्ध होने की समस्याओं पर।